❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष ३ | गौराब्द ४७१, मास—नारायण ८, वार—वासुदेव
रविवार, २९ मार्गशीर्ष, सम्वत् २०१४, १५ दिसम्बर १९५७ | संख्या ७

श्रीगोवर्द्धनाष्टकम्

[श्रीमद्-रूप-गोस्वामि-विरचितम्]

श्रीगोवर्द्धनाय नमः

गोविन्दास्योत्तंसित-वंशी-क्वणितोद्य-स्लास्योत्कण्ठा मत्त-मयूरव्रज-गीत ।
राधाकुण्डोत्तुङ्ग-तरङ्गांकुरिताङ्ग प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम् ॥१॥

यस्योत्कर्षाद्विस्मित धीभिर्व्रजदेवी-वृन्दैर्वर्यं वर्णितमास्ते हरिदास्यम् ।
चित्रैर्युञ्जन् स च तिपुञ्जैरखिलाशां प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम् ॥२॥

विन्दद्भिर्यो मन्दिरतां कन्दरवृन्दैः कन्दैश्चेन्दोर्बन्धुभिरानन्दयतीशम् ।
वैदुर्याभैर्निर्झरतोयैरपि सोऽयं प्रात्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम् ॥३॥

शश्वद्विश्वालङ्करणालङ्कृति मेध्यैः प्रेम्णा धौतैर्धातुभिरुद्दीपित-सानो ।
नित्याक्रन्द्रत् कन्दर-वेणुध्वनि हर्षात् प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम् ॥४॥

प्राज्या राजिर्यस्य विराजत्युपलानां कृष्णेनासौ सन्ततमध्यासितमध्या ।
सोऽयं बन्धुर्बन्धुर धर्मा सुरभिणां प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम् ॥५॥

निर्घ्नन्वानः संहति-हेतुं घनवृन्दं जित्वा जम्भारातिमसम्भावितबाधम् ।
स्वानां वैरं यः किल निर्यापितवान् सः प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम् ॥६॥
बिभ्राणो यः श्रीभुज-दण्डोपरि भर्त्तुच्छत्रीभावं नाम यथार्थं स्वमकार्षीत् ।
कृष्णोपज्ञं यस्य मखस्तिष्ठति सोऽयं प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम् ॥७॥
गान्धर्वायाः केलिकला-बान्धव-कुञ्जे चुण्णैस्तस्याः कङ्कण-हारैः प्रयताङ्ग ।
रासक्रीडा-मण्डितयोपत्यकयाढ्य प्रत्याशां मे त्वं कुरु गोवर्द्धन पूर्णाम् ॥८॥
अद्रिश्रेणी-शेखर पद्याष्टकमेतत् कृष्णान्तोदप्रेष्ठ पठेद्यस्तव देही ।
प्रेमानन्दं तुन्दिलयन् क्षिप्रममन्दं तं हर्षेण स्वीकुरुतां ते हृदयेशः ॥९॥

अनुवाद—

श्रीकृष्णके अधरप्रान्तमें विराजित मुरलीकी मधुर-ध्वनिको श्रवण कर उन्मत्त होकर नृत्य करते हुए मयूरों द्वारा तुम घिरे हुए हो तथा श्रीराधाकुण्डकी ऊँची-ऊँची तरङ्ग-मालाओंसे (सिंचित होकर) तुम्हारे अङ्गोंके ऊपर नई-नई हरी-हरी तृण-लताएँ अंकुरित हैं—हे शैलराज गोवर्द्धन ! तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो ॥१॥

श्रीकृष्ण द्वारा सम्पादित (गोवर्द्धनकी) श्रेष्ठताके कारण विस्मित हुई गोपियोंने जिन्हें (गोवर्द्धनको) हरिदासवर्य अर्थात् श्रीहरिका श्रेष्ठ-सेवक कह कर पुकारा है और जिनका तेजःपुञ्ज विविध वर्णोंकी चन्द्रकान्तादि मणियोंसे जगमगा रहा है—हे गोवर्द्धन ! तुम मेरी आकांक्षा पूर्ण करो ॥२॥

मन्दिरके समान अपनी कन्दराओं, चन्द्रबन्धु कुमुद-मृणाल आदि की तरह अतिशय उज्ज्वल और सुस्वादु कन्द-मूलों तथा वैदूर्यमणिकी तरह स्वच्छ निर्झर-वारि-धारा द्वारा तुम श्रीकृष्ण और उनके परिकरों-को अत्यन्त आनन्द प्रदान करते हो—हे गोवर्द्धन ! तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो ॥३॥

निखिल जगत्के भूषण-स्वरूप श्रीकृष्णके अङ्गोंके भूषण स्वरूप, विशुद्ध प्रेम द्वारा प्रक्षालित गैरिकादि धातुओं द्वारा तुम्हारा शिखर-प्रदेश अतिशय उद्दीप्त है एवं वेणु-ध्वनिरूप आनन्दवशतः तुम्हारी कन्दराएँ सर्वदा प्रतिध्वनित होती हैं—हे गोवर्द्धन ! तुम मेरी कामना पूर्ण करो ॥४॥

तुम्हारे गण्ड-प्रदेशकी पर्वत-मालाएँ श्रीकृष्णके निरन्तर बैठनेसे अतिशय सुशोभित हैं तथा गो-समूहका पालन करनेके हेतु तुम उनके बन्धु हो, अतएव तुम्हारा पालन-धर्म विशेषरूपसे समृद्ध है—हे शैलपते गोवर्द्धन ! तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो ॥५॥

व्रजका संहार करनेके लिये जगत् विप्लवकारी मेघ-समूहोंके प्रेरक एवं सर्वत्र विजयी महिषासुरके शत्रु इन्द्रको पराजित करके तुमने अपने सजातीय पर्वत-समूहके शत्रुका विनाश किया है—हे इन्द्र विजयिन् गोवर्द्धन ! तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो ॥६॥

श्रीकृष्णके भुजदण्डोंके ऊपर छत्रके रूपमें विराजित होकर तुमने अपना 'गिरिराज' नाम सार्थक किया है एवं तुम्हारा यज्ञ श्रीकृष्णको ही सबसे पहले विदित हुआ है—हे गोवर्द्धन ! तुम मेरी आकांक्षा पूर्ण करो ॥७॥

तुम गान्धर्वा श्रीमती राधिकाकी केलि-क्रीड़ाओंके सहायक हो, तुम्हारा अङ्ग, निकुञ्जमें गिरे हुए श्रीमती राधिकाके कङ्कणों और मालाओंसे सुशोभित है तथा तुम्हारी तलहटी श्रीकृष्णकी रास-क्रीड़ाओंसे सुशोभित है—हे गोवर्द्धन ! तुम मेरा मनोऽभिष्ट पूर्ण करो ॥८॥

हे गिरिराज गोवर्द्धन ! जो तुम्हारे इस पद्याष्टकको पाठ करते हैं, तुम्हारे हृदयेश्वर श्रीकृष्ण अति शीघ्र ही अपना निरतिशय प्रेमानन्द बढ़ा कर आनन्दपूर्वक उन्हें अपना लेते हैं ॥९॥

निषिद्धाचार

सम्यक् रूपसे गमन करनेका नाम 'आचार' है। सुष्ठुरूपमें पवित्र आचरण करनेवालेको 'आचार्य' कहते हैं। जीवमें असम्पूर्ण-धर्म होता है। इसलिये उनका आचरण भी असम्पूर्ण होता है। कर्मियों और मुमुक्षुओंके आचरण खण्डित और आंशिक होनेके कारण सम्पूर्ण नहीं होते। यही कारण है कि उनका आचरण कभी भी पूर्णताको प्राप्त नहीं होता। परन्तु भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करने वाले नित्यमुक्त भक्तवृन्द परमपूर्ण-पुरुष भगवान्‌की नित्य-सेवामें निरत रहते हैं, इसलिये उनके आचरण में कहीं भी मलिनताकी गन्ध तक रहने की सम्भावना नहीं। जीवके स्वरूपगत नित्य-धर्ममें जो स्वाभाविक आचरण या वृत्ति पाई जाती है, वही अपरिवर्त्तनीय आचार है। वही आचार नित्य आचार है, सिद्ध-आचार है।

सिद्ध और निषिद्ध आचारोंमें भेद

जो आचार सिद्ध पुरुषोंके आचरण योग्य नहीं होता, जो शील या आचार नश्वर या अनित्य होता है—उसे निषिद्धाचार कहते हैं। सिद्ध किसे कहते हैं—जिनकी पूर्णता पहलेसे ही लक्षित है, जिनके सब तरहके अभाव दूर हो चुके हैं, जो मायाके बन्धनसे मुक्त हो चुके हैं—वे सिद्ध हैं। जो असिद्धोंके आक्रमणसे अपने स्थानसे विचलित नहीं होते, जो अक्षर-धर्ममें अवस्थित होते हैं—वे सिद्ध हैं। असिद्ध व्यक्ति ऊपरसे नीचेकी ओर पतित होता है और पुनः नीचेसे ऊपरकी ओर चढ़नेकी योग्यता लाभ करता है। धीर, शान्त और अचंचल व्यक्ति कभी भी विपथगामी होकर बुरे और नीच स्तरका आदर नहीं करते।

अभावसे पूर्ण दरिद्र व्यक्तिका संग करनेसे धनवान्‌का दरिद्र होना निश्चित है, मूर्खका संग करनेसे ज्ञानीका ज्ञान क्षय होता है अर्थात् मूर्खता और जड़ताका अनुशीलन करनेसे अचित् पदार्थोंके संग प्रभावसे ज्ञानीको अज्ञानमें रुचि होने लगती है तथा उसका ज्ञान आच्छादित सा हो पड़ता है। किन्तु विशुद्ध ज्ञानमें अवस्थित होकर अज्ञ व्यक्तियोंकी अविद्या दूर करनेसे ज्ञानीका पतन नहीं होता।

जब ज्ञानी अबोध कर्मीका संग करता है, तभी उसका ज्ञान आवृत होता है। तथा उसी समय उसके सिर पर अज्ञानका भूत सवार होता है। पुनः वैष्णव आचार्यका चरणाश्रय करने पर वही ज्ञानी ब्रह्मचारी होकर ब्रह्मज्ञ बन जाता है। योगसे भ्रष्ट होने पर ब्रह्मचारीका पतन होता है। भगद्भक्त ही यथार्थमें योगी और ब्रह्मचारी है। ब्रह्ममें विचरण करते-करते गुरुसे विमुख होनेपर जीव मायिक-राज्य में विचरण करना आरंम्भ करता है अर्थात् वैकुण्ठ सेवाको परित्याग कर स्वतःसिद्ध ज्ञानका अपव्यवहार कर अपनेको मायिक वस्तुओंका भोक्ता अभिमान कर उनका भोग करने लगता है। यही ब्रह्मचर्यका परित्याग कर रजोगुण ग्रहण करना है। मायिक वस्तुओंका भोग करते-करते उसमें क्रमशः राजसिक प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं। तब आत्म-ज्ञानसे रहित होकर वह अनात्म मायाको ही ब्रह्म मानने लगता है। इसीको कहते हैं—विवर्त्त। विवर्त्तग्रस्त जीवको तमोमयी बुद्धि आश्रय कर उसे मायवादी बना देती है—जीवोंके लिये यही नित्य निषिद्धाचार है।

पतित योगी योगसे भ्रष्ट होनेपर ब्रह्मचर्यसे च्युत होकर मायाके राज्यमें भटकने लगता है। उस समय उसके लिये कृष्ण-संसार बहुत ही दूर पड़ जाता है। वह कृष्ण-संसारको मायाका संसार तथा अविद्याको पराविद्या एवं तमोमय संसारकी विशेषरहित प्रलयावस्थाको ही ब्रह्मकी नित्य स्थिति मान कर घोर माया-

बादमें प्रविष्ट हो जाता है। योगी अपने ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट होकर भूलसे मायाको ही ब्रह्म, विशेष-रहित अवस्थाको मुक्ति और नश्वर जगत्के विनाशको ही चिद्-वृत्ति मानता है। किन्तु जब उसे आत्म-तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तथा जब वह जान लेता है कि वह (शुद्ध-आत्मा) भोगमय जड़ जगत्का पथिक नहीं है, तब अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर आत्माकी नित्य-वृत्ति—भक्तिमें नित्य प्रतिष्ठित हो जाता है। जिस योग विद्याका चरम उद्देश्य भक्ति नहीं होता, उसे कदापि आचार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वैसा योग नश्वर और अनित्य धर्ममें ही अवस्थित होता है।

श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित प्रेम-धर्म ही शुद्धाचार है।

मुक्त पुरुषोंका भक्तिमें अवस्थित होनेका अर्थ है—अमिश्र तथा विशुद्ध आत्माका परमात्म-भूमिका में विचरण करना। शुद्ध जीवात्मा और परमात्मा की नित्य-वृत्ति—प्रेम अनेक नहीं, बल्कि अखण्ड और अद्वितीय होता है। भगवान्की ह्लाद-प्रवृत्तिका सार-अंश ही प्रेममयी श्रीमती राधिका हैं तथा उनके विचित्र लीला-विलाससे उत्पन्न विचित्रता या शाबल्य ही रासस्थली है। वही चित्र (विचित्रता) ब्रह्मज्ञ भक्ति-योगीके चित्तको उन्मादित करनेवाला होता है। उसीको प्राप्त करना ही सदाचार है। उस सदाचार को प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय, श्रीराधागोविन्दके मिलित तनु श्रीगौरसुन्दरने वैष्णव-ब्राह्मणके वेशमें प्रकाशित किया है, जिसे श्रीगौराङ्गदेवके प्रियजनोंने अपना सर्वस्व मानकर अपने अनुगत सम्प्रदायको सम्पत्तिके रूपमें प्रदान किया है। उस सम्पत्तिकी रक्षा करनेके लिये यदि किसीको रुचि होती है, तो वे गौरसुन्दरकी निषिद्धाचार सम्बन्धी वाणियोंको श्रवण करें, तथा उनकी वाणीरूप वेणीमें अवगाहन कर स्वरूपके चरणाश्रित होकर अपनेको प्रतिष्ठानपुरके मध्यवर्ती गौड़का अधिवासी जानकर उनके प्रदर्शित सिद्ध आचारमें नित्यकाल अवस्थित होंवे।

निषिद्ध आचारका परित्याग करने पर जीव ब्रह्मचारी बन सकता है और ब्रह्मचारी होने पर ही अपराविद्याका अनुशीलन छोड़कर भगवानका सान्निध्य-योग प्राप्त कर सकता है। ऐसा होनेपर ही उसके हृदयमें स्वतःसिद्ध भक्ति-वृत्तिका उदय होता है। अन्यथा योग-भ्रष्ट होकर समावर्त्तनपूर्वक (गुरुके गृहसे लौटकर) सकाम ब्राह्मण-धर्ममें उसे अवस्थित होना पड़ता है। कहाँ अनन्त क्लेशपूर्ण नश्वर संसार से निकलकर कृष्णके चरण-कमलोंकी सेवारूप नित्य कल्याणकी प्राप्ति! और कहाँ भक्ति-पथसे गिर कर अनात्म धर्ममें स्थिति!! अर्थात् योग-भ्रष्ट होकर ब्रह्मचर्यसे अनादि पतनकी योग्यता!! गुरुके आश्रम से लौटा हुआ स्नातक जड़-भूमिको भोग करनेकी कामनासे क्षत्रिय, धन-सम्पत्तिकी कामनासे वैश्य और अभावग्रस्त दरिद्र शूद्र आदि जीवनोंमें कितना कष्ट भोग करता है—जिसकी कोई सीमा नहीं।

निषिद्धाचार कैसे दूर हो ?

किन्तु इतना क्लेश पानेपर भी बद्धजीव उन क्लेशोंको क्लेश न मानकर सुख ही मानते हैं विषयों का ध्यान करते-करते उनको हरि-सेवाकी बातें कतई भी अच्छी नहीं लगतीं। वे अनित्य निषिद्धाचारको ही सदाचार और सिद्धाचार मानते हैं। अतएव जब तक वैसे मनका दमन नहीं कर लिया जाय, तब तक जीवका नित्य-कल्याण होना असंभव है। अभाव के राज्यमें—मायाके राज्यमें भटकनेवाले पथिकको निषिद्धाचार छोड़ना पहले-पहल बहुत ही कठिन लग सकता है, परन्तु सिद्धाचारमें यत्नपूर्वक अवस्थित हो जाने पर निषिद्धाचारके प्रति उसे स्वतः ही घृणा पैदा हो जाती हैं तथा वह अपने आप दूर हो जाता है।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

तत्तत्कर्म-प्रवर्त्तन

(पूर्व-प्रकाशित वर्ष ३, संख्या ६, पृष्ठ १३० से आगे)

मायावादी और नास्तिक व्यक्तियोंका संग त्यज्य

भगवद्-विमुख व्यक्तियोंका संग नहीं करना चाहिये। व्यवहारिक कार्योंमें उनके साथ अवश्य ही मिलन होगा, किन्तु उन्हीं कार्योंतक ही उनके साथ व्यवहार करना चाहिये । कार्य समाप्त होते ही उनके साथ कोई व्यवहार नहीं रखना चाहिये। जिनके हृदयमें कृष्ण-भक्तिका स्वरूप उदय नहीं हुआ है, वे ज्ञान और कर्मका आश्रय लेकर सर्वदा दांभिक होते हैं। अतएव वे भगवद्-विमुख होते हैं । अनेक देव-देवियोंकी सेवा करनेवाले निर्भेद ज्ञान-पिपासु माया-वादी और वेद-विरोधी नास्तिक आदि सभी भगवद्-विमुख हैं।

अनेकों शिष्य करना तथा अनेकों शास्त्र पाठ करना कर्त्तव्य नहीं है

जिन लोगोंको शुद्ध भक्तिके प्रति श्रद्धा न हो, उन्हें शिष्य न करो । ऐसा करनेसे भक्ति सम्प्रदाय दूषित हो पड़ती है। महारम्भादि क्रिया (विराट-विराट महोत्सव आदि क्रिया) के द्वारा भक्ति क्षय होती है। अतः इनका परित्याग करो।

सन्तोष और समज्ञान

गृहस्थ जीवनमें अथवा गृह-त्यागके बाद सब समय खाने-पहननेकी चेष्टा तो करनी ही पड़ेगी। किन्तु इन व्यवहारोंमें सर्वदा सावधान रहना चाहिये। इस विषयमें पद्मपुराणकी शिक्षा बड़ी ही सुन्दर है—

> अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादन-साधने ।
> अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिनामैव धिया स्मरेत् ॥

तात्पर्य यह कि—साधक घरमें रहे अथवा वनमें रहे, उसे खाने और पहननेके लिये कुछ-न-कुछ अवश्य ही करना पड़ेगा । गृहस्थको कृषि-कार्य, वाणिज्य-व्यवसाय अथवा नौकरी-चाकरीके द्वारा ग्रासाच्छादनका प्रयत्न करना पड़ेगा । गृह-त्यागीको भिक्षा-वृत्ति पर निर्भर रह कर ग्रासाच्छादनकी व्यवस्था करनी पड़ेगी । यदि उन कार्योंसे खाने और पहननेको न मिले अथवा मिल कर भी छीन जाय, तो भी भक्तोंके हृदयमें कोई विकार न होना चाहिये । उन्हें शान्तिपूर्वक कृष्ण-भजनमें लगा रहना चाहिये।

शोकको दूर करना कर्त्तव्य है

संसारी लोगोंको स्त्री-पुत्र और धन-सम्पत्ति आदि नष्ट होने पर बड़ा ही शोक होता है, किन्तु भक्ति-साधकको ऐसे-ऐसे अवसरों पर अधिक समय तक शोक नहीं करना चाहिये । उन्हें शीघ्र ही शोक परित्याग कर कृष्ण-अनुशीलनमें नियुक्त होना उचित है। गृह-त्यागियोंको लोटा-कम्बल या भिक्षा-पात्र नहीं रहनेसे अथवा किसी पशु या मनुष्य द्वारा चुराये जाने पर शोक करना उचित नहीं है । शोक, क्रोध आदि समस्त प्रकारके वेगोंको वैष्णव-साधक परित्याग करेंगे; नहीं तो कृष्ण-स्मृतिका नैरन्तर्य विशेष रूपसे बाधा प्राप्त होगा। पद्मपुराणमें कहा गया है—

> शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम् ।
> कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्तिः संभावना भवेत् ॥

श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरे-दूसरे देव-देवियोंकी आराधना निषिद्ध है

साधक एकमात्र श्रीकृष्णकी आराधना करेंगे। उन्हें अन्य देवताओंका भजन नहीं करना चाहिये। किन्तु स्मरण रहे, किसी भी देवता अथवा शास्त्रके प्रति कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। अन्य देवतागण श्रीकृष्णके अधिकृत दास हैं—ऐसा जान

कर जब कभी भी सामने देखने पर उनका सम्मान करना चाहिये। पद्मपुराणका निर्देश है—

हरिरेव सदाराध्यः सर्व-देवेश्वरेश्वरः ।
इतरे ब्रह्म-रुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन ॥

तात्पर्य यह कि—परमेश्वर ही एकमात्र वस्तु हैं। दूसरे सभी परमेश्वरके गुणावतार विशेष हैं। मानव अपने-अपने अधिकारके अनुसार अपने अनुकूल देवताकी उपासना करता है। किन्तु सात्विक प्रकृति वाले मानवोंके लिये भगवान् विष्णु ही एकमात्र उपास्य हैं। मानवगण अनेक जन्मोंतक अन्यान्य देवताओंकी उपासना करते-करते अपने-अपने गुणोंको क्रमशः उन्नत बनाते हुए जिस जन्ममें विष्णुको एकमात्र ईश्वर मान कर उनकी उपासना करता है, उसी जन्ममें उसका नित्य-मङ्गल उदित होता है। श्रीकृष्ण ही विष्णु-तत्त्वके चरम प्रकाश हैं। सत्त्व गुणकी उपासना द्वारा जीव जब निर्गुण अवस्थाको प्राप्त कर लेता है, तब वह श्रीकृष्ण-तत्त्वकी सेवा प्राप्त होता है।

किसीको उद्वेग नहीं देना चाहिये

सब प्राणियों पर दया रखनी चाहिये। उन्हें तनिक भी उद्वेग नहीं देना चाहिये। सबके प्रति करुणापूर्ण व्यवहार रखना कर्त्तव्य है। समस्त प्राणियोंके प्रति दयाका भाव—कृष्ण-भक्तिका एक अङ्ग है। इस स्वभावको प्राप्त करनेके लिये साधकको सावधानीसे अभ्यास करना चाहिये।

सेवापराध और दस नामापराध अवश्य वर्जनीय हैं

जो भजन करना चाहते हैं, उन्हें सेवापराध और दस प्रकारके नामापराधोंका अवश्य-अवश्य वर्जन करना चाहिये। साधारण कोटिके भक्तोंके लिये श्रीमूर्त्तिकी सेवाके कुछ नियम होते हैं। उन नियमोंका उल्लंघन करनेसे सेवा-अपराध होता है। अतः भगवन्मन्दिरमें प्रवेश करनेके समय सेवापराधोंसे अवश्य बचना चाहिये। नामापराध दस प्रकारके हैं। इनका विचार अनेक स्थलों पर दिया गया है। ये अपराध खूब सावधानीसे प्रत्येक साधकोंके लिये वर्जनीय हैं। इस विषयमें शिथिलता करनेसे उनका साधन-भजन जब कुछ व्यर्थ है। पद्मपुराणमें कहते हैं—

सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरि-संश्रयः ।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद्वापद्-पांसुनः ॥
नामाश्रयः कदाचित् स्यात् तरत्येव स नामतः ।
नाम्नो हि सर्व-सुहृदो ह्यपराधात् पतत्यधः ॥

सारांश यह कि—श्रीहरिका आश्रय ग्रहण करनेसे समस्त प्रकारके अपराध नष्ट हो जाते हैं। भगवान्के प्रति जो-जो अपराध किये जाते हैं अर्थात् समस्त प्रकारके सेवापराध श्रीनामका आश्रय ग्रहण करनेसे दूर हो जाते हैं। नाम—वैष्णवमात्रका उद्धार करते हैं, किन्तु शर्त यह है कि वे समस्त प्रकारके अपराधोंका अवश्य ही वर्जन करें। यदि ऐसा नहीं किया जाय तो भगवान्का नाम ग्रहण करने पर भी पतन अनिवार्य है।

विष्णु और वैष्णवोंकी निन्दा नहीं करना तथा गुरु-पदाश्रय

साधकोंको कृष्णकी अथवा वैष्णवोंकी निन्दा नहीं सुननी चाहिये। जहाँ वैसी निन्दा चल रही हो वहाँसे तुरन्त हट जाना चाहिये। जिनका हृदय दुर्बल होता है, वे लोक-लज्जाके भयसे श्रीकृष्ण और वैष्णवोंकी निन्दा सुन कर क्रमशः भक्तिसे दूर हटते चले जाते हैं।

उपरोक्त २० प्रकारके भक्ति-अंगोंका आदर पूर्वक पालन करनेसे भावोदय होता है। भावोदयका मूल कारण—कृष्णकी कृपा है। कृष्ण-कृपा साधुसंगके बिना नहीं हो सकती। इनमें भी गुरु-पदाश्रय, दीक्षा और गुरुकी सेवा ही सबोंके मूल हैं।

दास्य-सख्यादि भक्तिके अंग-समूह

इसके पश्चात् जो भजनके अङ्ग लिखे गये हैं, उनमें १ से लेकर ५० तक अर्थात् 'वैष्णव चिह्न-धारण' से लेकर 'ध्यान' तक सभी अर्च्चनके अंग हैं। श्रीगुरुदेवसे प्राप्त इन अङ्गोंका यथा-शक्ति साधन

करना चाहिये । दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—ये भावोद्बोधक क्रियाएँ हैं; ये क्रियाएँ यथार्थरूपमें किये जाने पर ही भाव उदित होता है। केवल साधन-कालमें ही ये साधनभक्तिकी क्रियाओंमें परिगणित होती हैं।

संसारमें जो भी अपना इष्टतम प्रतीत होता हो और जो भी अपना अतिशय प्रिय हो—उन सबको भगवान् श्रीकृष्णको अर्पण कर दो—इसका फल बहुत ही अच्छा होता है। तात्पर्य यह कि—अपनेको प्रिय लगने वाली वस्तुओंका भोग स्वयं न कर श्रीकृष्णके उद्देश्यसे दान करते हुए उनके प्रसादके रूपमें उन्हें भोग करो।

कृष्णके लिये अखिल चेष्टाएँ तथा कृष्णके लिये ही संसार करना कर्त्तव्य है

व्यवहारिक और पारमार्थिक सब तरहकी चेष्टाएँ श्रीकृष्णके उद्देश्यसे होने पर ही यथार्थ कल्याण हो सकता है। नारद पंचरात्रमें कहते हैं—

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने ।
हरि-सेवानुकूल्येव सा कार्या भक्तिमिच्छता ॥
(भ० र० सि० १।२।६३)

तात्पर्य यह कि मनुष्य संसारमें रह कर लौकिकी या वैदिकी जो भी क्रिया करे, उसे कृष्ण-विमुख भावसे न करें। उन क्रियाओंको सर्वदा कृष्ण-सेवाके अनुकूल करते हुए आचरण करना ही उचित है। विवाह आदि स्मार्त्त-संस्कार और क्रियाएँ—वैदिकी हैं तथा लोक-रक्षाके लिये सांसारिक और शारीरिक क्रियाएँ—लौकिकी हैं। कृष्ण-संसार निर्माण करनेके लिये विवाह, कृष्ण-सेवक बढ़ानेके लिये संतान-चेष्टा, कृष्ण-दासोंकी तृप्तिके लिये पितृ-श्राद्ध, कृष्णके जीवोंके तर्पणके लिये भोजन-महोत्सव—इसी प्रकार समस्त कर्मोंको कृष्ण-सेवाके अनुकूल ही करना चाहिये। ऐसा होने पर बहिर्मुख कर्म-काण्डमें गिरनेका डर नहीं रहता। यह देह और घर आदि सब कुछ कृष्णका ही है—ऐसी भावना कर देह, गृह और समाज आदिकी रक्षा करनी चाहिये। इसीका नाम कृष्ण-संसार है।

शरणागति और ६ प्रकार तुलसी-सेवा

साधकका सम्पूर्ण जीवन शरणागतिसे विभूषित रहना चाहिये। इस पत्रिकामें छः प्रकारकी शरणागतिकी जगह-जगह व्याख्या की गई है। शरणागतिके अभाव-में जीवोंका जीवन व्यर्थ है। जीव सर्वदा शरणागत होकर कृष्णका भजन करेंगे।

कृष्ण सम्बन्धी वस्तुओंको 'तदीय-वस्तु' कहा जाता है। तदीय-सेवामें तुलसीकी सेवा प्रधान है। स्कन्द पुराणमें कहा गया है—

दृष्टा स्पृष्टा तथा ध्याता कीर्त्तिता नमिता श्रुता ।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा ॥
नवधा तुलसीं देवीं ये भजन्ति दिने-दिने ।
युग कोटि-सहस्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे ॥

सारांश यह कि—तुलसीजीका प्रतिदिन ६ प्रकार-से भजन करनेसे भगवत्-गृहमें निवास प्राप्त होता है। तुलसीका दर्शन, स्पर्शन, ध्यान, कीर्त्तन, नमस्कार, महिमा-श्रवण, रोपण, उनकी जल-सेवा तथा पूजा—६ प्रकारसे तुलसीजीका भजन होता है।

भक्ति-शास्त्र-पाठ, मथुरा-वास तथा भक्त-सेवा

कृष्ण भक्ति प्रतिपादक शास्त्र ही 'तदीय वस्तु' कहे जाते हैं। इनमें श्रीमद्भागवत प्रधान हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृतको भी वही सम्मान प्राप्त है। इन भक्ति-शास्त्रोंका नित्य पठन और श्रवण करने वाले धन्य हैं।

मथुरादि कृष्ण-तीर्थ साधकोंके निवास करने योग्य स्थान हैं। इनमें मथुरा-वास सर्वश्रेष्ठ है। श्रीधाम नवद्वीप-वास भी उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्माण्ड पुराणमें मथुरा धामकी महिमा इस प्रकार उल्लिखित है—

श्रुता स्मृता कीर्त्तिता च वांछिता प्रेक्षिता गता ।
स्पृष्टाश्रिता सेविताच मथुराभीष्ट-दायिनी ॥

कृष्ण-भक्त भी 'तदीय' माने जाते हैं। आदि-पुराणमें कहा गया है—

ये मे भक्त-जनाः पार्थ ! न मे भक्ताश्च ते जनाः ।
मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः ॥

भक्त-सेवाके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

यावन्ति भगवद्भक्तेरङ्गानि कथितानि हि ।
प्रायस्तवान्ति तद्भक्त-भक्तेरपि बुधा विदुः ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

तात्पर्य यह कि—कृष्ण-भक्तिके अङ्ग ही कृष्ण-भक्त की भक्तिके अङ्ग हैं। 'प्राय'—शब्द इस भेदका सूचक है कि कृष्ण-प्रसादके द्वारा ही कृष्ण-भक्तकी पूजा होती है। प्रणति आदि दूसरे-दूसरे अङ्ग एक ही प्रकारके हैं।

श्रीमूर्त्ति-सेवा, यात्रा-महोत्सव, रसिक भक्तोंके साथ भागवत आस्वादन

साधकको यथाशक्ति महोत्सव करना उचित है। सत्संगमें महोत्सव मनाना एक प्रधान कार्य है। हाँ, इस कार्यमें सतर्क रहने की आवश्यकता इस बातकी है कि महोत्सवके बहाने असाधु संग न हो जाय।

श्रीभगवज्जन्म आदि तिथियोंके अवसर पर उत्सव मनाना चाहिए। श्रीमूर्त्तिकी सेवा प्रीतिपूर्वक होनी चाहिए। मूढ़ लोग मूर्खतावशतः निराकारमें विश्वास रखते हैं तथा श्रीमूर्त्तिका अनादर करते हैं। यदि वे लोग सत्संगमें रहें तथा सद्-विचारोंका श्रवण और विवेचन करें, तो वे लोग भी श्रीमूर्त्तिकी सेवाकी नित्य आवश्यकता समझ पायेंगे।

रसिक भक्तोंके संगमें श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रों का आस्वादन करना आवश्यक है। हेतुवादी, तार्किक और शुष्क वाद-विवादमें निरत व्यक्तियोंसे भक्ति-शास्त्रोंके श्रवण आदि द्वारा हृदय शुष्क हो जाता है—रस उदय नहीं होता है।

साधु-संग

साधकके लिये भगवद् भक्तका संग नितांत आवश्यक है। ज्ञानी, कर्मी आदि कुप्रवृत्तियुक्त व्यक्ति भक्त नहीं हैं। स्वजातीय भक्ति-वासनावाले स्निग्ध पुरुषोंका—जो हमसे श्रेष्ठ हों—संग करना चाहिए। अन्यथा हमारा चित्त शुद्धभक्तिका आश्रय नहीं कर सकता है। 'हरिभक्तिसुधोदय' में सत्संगकी विधि इस प्रकार दी गयी है—

यस्य यत्सङ्गतिः पुंसो मणिवत् स्यात् स तद्गुणः ।
स्वकुलद्धर्यं ततो धीमान् स्व-यूथ्यानेव संश्रयेत् ॥८।५१॥

भावार्थ यह कि जो जैसा संग करेंगे, वैसा ही फल प्राप्त करेंगे, ठीक वैसे ही जैसे स्फटिक मणि का रंग भी वैसा ही दीख पड़ता है जैसा कि उसके पास रखे हुए किसी पदार्थका रंग होता है। इस विषयमें अति सतर्क होनेकी आवश्यकता है। समस्त प्रकारके भक्ति-अंगोंमें भक्त-संग एक प्रधान अंग है।

पञ्चधा भक्ति और उसमें नामसंकीर्त्तन और वैष्णव-सेवनकी सर्वप्रधानता

भक्तिके ६४ अंगोंमें ५ अंग प्रधान हैं। वे पाँच अंग हैं—(१) श्रीमूर्त्तिकी सेवा, (२) रसिकजनोंके साथ भागवतका अर्थ आस्वादन, (३) स्वजातीय-वासनासे स्निग्ध अपनेसे श्रेष्ठ भक्तका संग, (४) नाम-संकीर्त्तन और (५) मथुरा-वास। इन पाँच प्रकारके साधनोंमें दो सबसे प्रधान हैं—(१) श्रीनाम-संकीर्त्तन और (२) वैष्णव-सेवा। पद्मपुराणका कथन है—

येन जन्म-सहस्राणि वासुदेवो निषेवितः ।
तन्मुखे हरि नामानि सदा तिष्ठन्ति भारत ॥

इसका तात्पर्य यह है कि—जो जन्म-जन्मान्तरों तक श्रीमूर्त्तिका अर्चन किया करते हैं, उनकी जिह्वा पर फलस्वरूप श्रीहरिनाम सर्वदा विराजमान रहते हैं अर्थात् उच्चरित होते हैं। और भी कहते हैं—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्य-रस-विग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्य-मुक्तोऽभिन्नत्वान्नाम-नामिनोः ॥
अतः श्रीकृष्ण-नामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।
सेवन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव-स्फुरत्यदः ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

नाम और कृष्ण दोनों एक वस्तु हैं। वे चिन्तामणि-स्वरूप, चैतन्य-रसके विग्रह, पूर्ण, शुद्ध अर्थात् जड़से परे, अप्राकृत और चिन्मय हैं। जड़ जीह्वा पूर्ण चिन्मय-स्वरूप श्रीनामको ग्रहण नहीं कर सकती है। किन्तु शुद्ध चिद्देहमें जब जीव श्रीकृष्णके सेवन्मुख होता है, तब चिन्मय नाम स्वयं कृपाकर उसकी

जिह्वा पर अवतीर्ण होकर नृत्य करने लगते हैं। चिन्मय वस्तुकी इसी प्रकार स्वतन्त्र कृपा होती है।

श्रीमथुरामण्डल, भगवन्नाम, भागवत आदि भक्ति-शास्त्र, शुद्ध-भक्त और श्रीमूर्त्ति—ये पाँच अलौकिक पदार्थ हैं। इनके संगसे भाव और कृष्ण हठात् उदित हो पड़ते हैं।

रागानुगा भक्ति और तत्तत्कर्म प्रवर्त्तन

इस प्रकार साधन भक्तिमें वैधी-भक्तिका महत्व-पूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त साधन कार्यमें रागानुगा 'साधन-भक्ति' अत्यन्त प्रबल होती है। व्रजवासियोंकी स्वाभाविक कृष्ण-सेवाको लक्ष्य कर उनको अनुसरण करनेकी प्रवृत्ति द्वारा जो साधन-पर्व उदित होता है, उसे 'रागानुगा-भक्ति' कहते हैं। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

भजन-परायण व्यक्ति तन, मन, वचनसे इन कर्मों का आचरण करेंगे। साधक अपने-अपने अधिकारोंके अनुसार वैधी साधन-भक्ति अथवा रागानुगा साधन-भक्तिके अंगोंका विशेष यत्नके साथ आचरण करेंगे।

कोई-कोई एक अंगका और कोई-कोई अनेक अंगोंका साधन करके भावरूप परम फल को प्राप्त करते हैं। जो एकमात्र नाम और वैष्णव सेवाका आश्रय करते हैं, उनकी भक्ति 'ऐकान्तिकी' कहलाती है। उनको दूसरे-दूसरे साधनोंमें रुचि नहीं होती। अतएव साधकजन एकान्त शरणागत होकर उत्साह, दृढ़-निश्चयता और धैर्यके साथ भक्ति-साधन के कार्यमें लगें।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

गीताकी वाणी

सोलहवां अध्याय

पन्द्रहवें अध्यायमें संसाररूप अश्वत्थ वृक्षका यथार्थ स्वरूप बतलाकर प्रस्तुत अध्यायमें भगवान् संसार-वृक्षके दो प्रकारके फलोंका विस्तृत विवेचन कर रहे हैं। जीव स्वरूपतः शुद्ध सत्त्वमय होने पर भी बद्धदशामें मायाके गुणोंमे बँधा हुआ होता है। मायाके गुणोंसे बँधा होनेके कारण जीवकी प्रकृति दो प्रकारकी होती है। एक दैवी प्रकृति और दूसरी आसुरी प्रकृति। उनको दैवी सम्पदा एवं आसुरी सम्पदा भी कहते हैं। इनमेंसे दैवी सम्पदाका फल मुक्ति और आसुरी सम्पदाका फल संसार-बन्धन है। ये ही दोनों संसार-वृक्षके फल हैं। दैवी सम्पदासे युक्त पुरुषमें २६ गुण होते हैं। वे ये हैं—अभय (भयका सर्वथा अभाव), अन्तःकरणकी निर्मलता, ज्ञानयोग, दान, दम (बाहरी इन्द्रियोंका संयम), यज्ञ, तप, सरलता, वेदपाठ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दा-वर्जन, प्राणीमात्र पर दया, लोभ-शून्यता, कोमलता, लज्जा, अचञ्चलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह, और अभिमान-शून्यता। ये गुण चारों वर्णों और चारों आश्रमोंके धर्म हैं। इनमेंसे संन्यासीके गुण—अभय, अन्तःकरणकी निर्मलता और ज्ञानयोग; वानप्रस्थका—तपस्या; गृहस्थोंके—दान, (न्यायपथसे उपार्जित अर्थको सत्पात्रको यथायोग्य अर्पण), बाहरी इन्द्रियोंका संयम और यज्ञ (अग्निहोत्र आदि उत्तम-उत्तम कर्मोंका आचरण), और ब्रह्मचारियोंका गुण—वेदपाठ है। सरलता अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति (मनका संयम) परनिन्दावर्जन, प्राणिमात्र पर दया, लोभ-शून्यता, कोमलता, लोक और शास्त्र-विरुद्ध आचरणोंमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव—ये ब्राह्मणोंके बारह गुण हैं। तेज, क्षमा (सामर्थ्य रहते हुए भी अपकार

करने वालोंके प्रति क्रोधका न होना), धृति (विपत्ति और भय आदि उपस्थित होने पर भी विचलित न होना—ये गुण क्षत्रियोंके हैं)। शौच (वाणिज्य व्यवसायमें मिथ्या व्यवहार न करना), अद्रोह (परहिंसाका अभाव)—ये गुण वैश्योंके हैं। अभिमान-शून्यता (अपनेमें श्रेष्ठ और पूज्य बुद्धिका अभाव)—यह शूद्रोंका गुण है। भिन्न-भिन्न वर्णोंके लिये अलग-अलग कुछ गुणोंके निर्देश रहने पर भी साधारणतः ये सभी गुण विप्रादि वर्णोंमें पाये जाते हैं।

दैवी सम्पदासे युक्त पुरुषोंके गुणोंका वर्णन कर अब आसुरी सम्पदासे युक्त पुरुषोंका लक्षण अर्थात् उनके गुणोंका वर्णन करते हैं—दंभ (मान-प्रतिष्ठा और अर्थ आदिकी कामनासे अथवा अपनेको धर्मात्मा प्रसिद्ध करनेके अभिप्रायसे देखाऊँ धर्म-पालन), दर्प (विद्या, धन, रूप, बल, जाति आदिके सम्बन्धसे जो मनमें घमण्ड होता है), अभिमान (अपनेको श्रेष्ठ या पूज्य समझना), क्रोध, कठोर भाषी और अज्ञान (कर्तव्य-अकर्त्तव्य सम्बन्धी विवेकका अभाव)—ये गुण आसुरी-सम्पदासे युक्त पुरुषोंमें पाये जाते हैं।

दैवी-सम्पदावाले गुण मोक्षके और आसुरी सम्पदावाले गुण संसार-बन्धनके कारण हैं। जगत्में उत्पन्न हुए प्राणियोंमें उपर्युक्त दोनोंमेंसे एक न एक सम्पदावाले गुण अवश्य रहेंगे ही। असुर स्वभाववाले लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिका भेद नहीं जानते। उनमें न शौच ही होता है, न आचार ही और न सत्य ही। वे इस जगत्को सर्वथा असत्य, आश्रयहीन, अनीश्वर (ईश्वर जगत्के सृष्टाकर्ता नहीं हैं) और प्रकृति-पुरुषके संयोगसे नहीं, बल्कि अपने-आप उत्पन्न हुआ बतलाते हैं। कोई-कोई तो यह भी कहते हैं कि 'ईश्वर' नामका कोई है भी तो वह कामके अधीन संसारकी सृष्टि करता है; अतएव वह हमारी आराधनाका पात्र नहीं है। ऐसे-ऐसे कुसिद्धान्तोंका अवलम्बन कर वे आत्म-तत्त्वज्ञानसे रहित, मन्दबुद्धि और असुर स्वभाववाले तथा सबका अपकार करनेवाले क्रूर-कर्मी मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं। वे दंभ, मान और अभिमानके मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं-का आश्रय लेकर मोहवशतः अपवित्र कार्यों—श्मशान-सेवा तथा मद्य-मांस आदि युक्त व्रतादि भ्रष्ट आचरणोंको धारण कर कल्पित देवताओंकी आराधना रूप नाना प्रकारके अशास्त्रीय असत् कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं। वे प्रलयकाल पर्यन्त असंख्य चिन्ताओंको आश्रय पूर्वक विषयोंके भोगको ही—बस, इतना ही सुख है—मानते हैं तथा आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए वे काम और क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धन आदि पदार्थ संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं।

वे अज्ञानसे मोहित होकर सोचा करते हैं कि मैंने आज इतना धन प्राप्त किया, अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा; मुझे और भी इतना धन प्राप्त होगा, मैंने इस शत्रुको मार डाला, फिर उन दूसरे शत्रुओं-को भी मार डालूँगा, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान हूँ, सुखी हूँ, कुलीन हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा, इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहने वाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहजाल-से समावृत और विषय-भोगोंमें अत्यन्त आसक्त असुर लोग घोर नरकमें पड़ कर भीषण दुःखोंको प्राप्त होते हैं। वे अपने आपको श्रेष्ठ माननेवाले दांभिक और धन-मानके मदसे युक्त व्यक्ति नाममात्र-के यज्ञों द्वारा पाखण्डसे शास्त्र-विधि-रहित यजन करते हैं। वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके वशीभूत और परनिन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ परमेश्वरसे भी द्वेष करते हैं तथा साधु-सन्तोंके गुणोंमें भी दोषारोपण करते हैं। वे द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधम अपने स्वभावके अनुरूप कुक्रियाओंके द्वारा आसुरी योनि प्राप्त होते हैं तथा वहाँ पर वे मूढ़ मुझे प्राप्त न कर पुनः-पुनः जन्म-जन्मान्तरों तक आसुरी योनि प्राप्त करनेके बाद घोर नरकमें गिरते हैं।

काम-क्रोध और लोभ—ये तीनों साक्षात् नरकके द्वारस्वरूप हैं, अर्थात् अधोगतिमें ले जाने वाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। इनसे मुक्त होकर मनुष्यको कल्याण—उत्तम श्रेयःका आचरण करना ही कर्त्तव्य है। इससे वह परमगतिको प्राप्त कर लेता है।

जो व्यक्ति शास्त्र-विधिको त्याग कर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण हैं। इसलिये शास्त्र-विधिसे नियत कार्य ही करने योग्य हैं।

तात्पर्य यह कि जीव अणुचिद् वस्तु है तथा स्वरूपतः भगवान्‌का दास है। परन्तु अपनी स्वतन्त्रताका अपव्यवहार कर भगवान्‌की सेवासे विमुख होने पर इस अपराधके कारण मायाके राज्यमें मायाके गुणों द्वारा बँधा हुआ भटकता है। आसुरी सम्पदा वाले गुणोंको आश्रय कर क्रमशः अधिक अधोगति प्राप्त करता है। किन्तु वही सत्सङ्गमें शास्त्र-ज्ञान और भगवत्सेवाकी प्रवृत्ति लाभ कर संसारसे चिरमुक्त हो जाता है तथा भगवत्सेवा सुख प्राप्तकर कृतार्थ होनेमें समर्थ होता है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

धर्मघट

धर्म-पत्रिकाओंमें धर्मघट आदि राजनैतिक विषयोंकी समालोचना सर्व-साधारणकी दृष्टिमें अपाततः अनुचित समझी जा सकती है। परन्तु बात ऐसी नहीं। यदि मनुष्य अपने समस्त प्रकारके प्रयत्नों को परमधर्मरूप सत्यानुशीलनके अनुकूल कर ले, तो वह शीघ्र ही पूर्ण संसिद्धिको प्राप्त करनेका अधिकारी हो सकता है। अतएव लौकिक-जीवन धर्म-जीवनके अधीन होनेपर ही अधिकतर कल्याण हो सकता है—इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

धर्मका अर्थ किसी व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेषके अन्धविश्वास मात्रसे नहीं है। श्रीमद्भागवतमें 'सत्यं परं धीमहि' वाक्य द्वारा परम सत्य अथवा वास्तव वस्तु या अद्वितीय ज्ञानको ही धर्मका तात्पर्य निरूपण किया गया है। परन्तु यह चेतन या व्यक्तिलक्षणसे युक्त है। धर्म क्या है?—सब प्रकारकी छलनाओं (स्वार्थ आदि) से रहित निर्मल और पूर्णज्ञान द्वारा प्रेरित कर्त्तव्य ही धर्म है। धर्मके वैज्ञानिक स्वरूप-विचारसे भ्रष्ट होनेपर ही धर्म एक अनावश्यक अथवा विकल्प-आवश्यक (कभी आवश्यक कभी अनावश्यक) व्यापार प्रतीत होता है। वैसी दशामें जीवनके एकमात्र मङ्गलदायक कर्त्तव्य—धर्मको एक गौण अथवा आंशिक प्रयोजन ही नहीं, अधिकन्तु उसे विलासिताका प्रसाधन और कोरी भावुकता भी माना जाने लगा है। वर्त्तमान भारत-सरकारके प्रधान-प्रधान कर्णधारवृन्द धर्मको इसी दृष्टिसे देखते हैं। इस भूल की एक गुरुतर प्रतिक्रिया है—यह बात हमारे राष्ट्रनायकोंके उर्वर मस्तिष्कमें धसती नहीं है। परस्पर विवदमान धर्मोंकी स्थूल-मूर्ति दर्शन कर वे अधिकतर भ्रान्त होकर धर्मके विषयमें निरपेक्ष रहना ही बुद्धिमत्ता समझते हैं। किन्तु दूसरी तरफ राजनैतिक अथवा समाजनैतिक समस्याएँ जितनी भी विभ्रान्तिकर और परस्पर विवदमान क्यों न हों, उनके प्रति निरपेक्षता प्रदर्शन करनेका कोई उपाय नहीं होता। अतएव यह केवल समझनेकी भूल है। जीवनमें संघर्ष अवश्यंभावी है—वह संघर्ष चाहे व्यक्तिगतरूपमें हो अथवा समष्टिगतरूपमें हो, चाहे वह तुच्छ भोगोंके लिए हो अथवा किसी महान् उद्देश्यके पालनके निमित्त ही क्यों न हो। तब केवल धर्मके प्रति ही यह निरपेक्षता क्यों?

वर्त्तमान प्रजातंत्र (डिमोक्रेसी) का स्वरूप इस प्रकार बतलाया जाता है--Government of the People, for the People and by the people. किन्तु यह विचार कहाँ तक संगत है-विचार करनेकी बात है। यदि हम ऐसा कहें- Education of the student, for the student and by the student अथवा Treatment of the patient, for the patient and by the patient. तब कैसा रहेगा ? ऐसी दशामें Expert या विशेषज्ञोंके ज्ञानका मूल्य ही क्या रहा ? Mass is always ignorant अर्थात् समुदाय सर्वदा अविद्यारोगग्रस्त एवं अज्ञ होता है। इस तथ्यको भूलकर कार्य-क्षेत्रमें प्रवेश करनेसे उसका प्रतिफल अवश्य अवश्य भोगना ही पड़ेगा।

'राजा प्रकृति रञ्जनात्' इत्यादि विचार और प्रजाके मनस्तुष्टिके आदर्श सम्राट श्रीरामचन्द्र द्वारा निरपराधिनी सम्राज्ञी श्रीसीतादेवीके निर्वासनका तात्पर्य प्रजाकी अज्ञताका समर्थन करना नहीं है, श्रीरामचन्द्रजीने तो एक तरफ जहाँ अपनी प्राणप्रिया सहधर्मिणीको निर्वासित कर व्यक्तिगत रूपमें दुःखको वरण किया, दूसरी तरफ शूद्र (शोच्य व्यक्ति) के अनाधिकार तपरूप आचरणके लिये उसे दण्ड भी तो दिया है। यही नहीं वे आर्यविधियोंके अनुसार भ्रातृ-वधूको अपहरण करनेवाले बालि का वध कर उसके अपराधका समुचित दण्ड देकर राजवंशोचित अधिकारका प्रयोग करनेमें भी तो कुंठित नहीं हुए। उच्छृंखलताकी पृष्ठपोषक मनोवृत्तिवाले हम श्रीराम-चन्द्रकी नैतिकताकी मापतौल करनेमें असमर्थ होनेके कारण नाना प्रकारकी जल्पना-कल्पना कर उनके लोकोत्तर चरित्र पर संदेह करते हैं। यह हमारी अज्ञताका ही परिचय है।

आर्य-भारतमें Government of the people, for the people किन्तु not by the people परन्तु by the departmental experts था। इस विधान (आईन) के निर्माता मनु, याज्ञवल्क्य आदि महर्षिवर्ग थे तथा राजा लोग इसका उपयोग प्रजाके हेतु करते थे- केवल प्रजाके कल्याण के लिये ही। यही थी भारतकी प्राचीन शासन-व्यवस्था। काम क्रोध आदि शत्रुओंके पंजोंसे स्वाधीनता प्राप्त करना ही यहाँ का मुख्य ध्येय (प्रयोजन) होता था। लोगों का प्रधान युद्ध तो माया या Misunderstanding के विरुद्ध चलता था। सत्योपलब्धि ही जीवनका चरम लक्ष्य था। आजकल देशके लिये प्राण उत्सर्ग करना जैसे अविवेचनाकी बात नहीं, ठीक उसी प्रकार सत्यके लिये अथवा धर्मके लिये प्राण देनाभी अत्यन्त सुविवेचनाकी बात हो सकती है। उच्छृंखल प्रजातंत्रकी दुर्गति अनिवार्य है। आजके प्रतियोगिताके युगमें जबकि दूसरे दूसरे देश परस्पर प्रतियोगिता पूर्वक कठिन परिश्रम द्वारा स्वदेशकी उन्नतिका प्रयत्न कर रहे हैं, नव स्वन्तत्रता प्राप्त भारतवासी परिश्रम करनेके बदले धर्मघटकी हुमकी द्वारा वेतन और भत्तादि बढ़ानेको बाध्य करनेसे पतन अनिवार्य है। थोड़ा लाभ अधिक उत्पादनकी नीति अपनायी नहीं जानेसे प्रतियोगितामूलक विश्वमें देशके उत्थानकी संभावना कहाँ ? धर्मघट-प्रिय भाइयोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि जरा सोच समझकर कोई कदम उठाया जाय।

[श्री गौड़ीय-दर्शन (बंगला मासिक पत्र) के संपादकीयसे अनुदित]

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नाम ग्रहणादिभिः॥ (श्रीमद्भा०)

—इस जगत्में जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्त्तव्य—परम-धर्म है कि वे भगवन्नाम-संकीर्त्तन आदि साधनोंके द्वारा भगवान्के चरणोंमें भक्तियोगको प्राप्त कर लें।

अचिन्त्यभेदाभेद

चतुर्थ सिद्धान्त

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ३, संख्या ६, पृष्ठ १४४ से आगे]

अत्यन्त आश्चर्यकी बात है कि विद्याविनोद महाशयने श्रीजीवपाद और बलदेव प्रभुकी वन्दनाओं में न जाने कैसे पार्थक्य खोज निकाला है। उन्होंने पार्थक्य शब्द से क्या लक्ष्य किया है—सबसे पहले उसे छान-बीन करनेकी आवश्यकता है। उन्होंने तो सभी जगह अद्वैतवादियोंकी तरह अद्वयत्व, अभेदत्व, अद्वितीयत्व, आदि शब्दोंके ही उल्लेख किये हैं। अद्वयत्वकी चिन्तामें इतना मग्न होते हुए भी उन्होंने पार्थक्य (भेद) खोज निकाला है—यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। वे अद्वैत चिन्तामें इस प्रकार डूबे हुए हैं कि वे जीव और प्रकृतिको पृथक् तत्त्व स्वीकार करनेके लिए भी प्रस्तुत नहीं हैं। यह-तत्त्व एक अद्वितीय वस्तु होनेपर भी उसमें जीव-तत्त्व और प्रकृति-तत्त्व की स्थिति समस्त शास्त्रों द्वारा सर्वतोभावेन अनुमोदित है। वे जीव और प्रकृतिको तत्त्वकी संज्ञा प्रदान करनेमें भी अनिच्छुक हैं— यही सबसे अधिक आश्चर्यकी बात है। क्या श्रीजीव गोस्वामी आदिके कोई भी विचार उनके कानोंमें प्रवेश नहीं कर सके हैं? उन्होंने अपने 'वाद' ग्रन्थमें 'कयेकटी प्रारम्भिक कथा' —युक्त भूमिकाके पृष्ठ ५ में कुछ मोटे-मोटे अक्षरोंमें लिखा है—'जीव और प्रकृतिको दूसरे-दूसरे वैष्णव आचार्योंकी तरह 'तत्त्व' संज्ञा देनेसे एकसे अधिक अनेक तत्त्व स्वीकृत हो पड़ते हैं, किन्तु अनेक तत्त्व स्वीकृत होनेसे अद्वयत्वकी हानि होती है।' उक्त भूमिकाके पृष्ठ ६ में 'वस्तु या तत्त्व एक है—दो नहीं' तथा 'जीव और प्रकृतिको तत्त्व स्वीकार करनेसे अद्वयताकी हानि होती है।' आदि अनेक वचनों द्वारा उन्होंने अद्वैतवादियोंकी तरह वस्तुका एकत्व स्वीकार कर जीव और प्रकृतिको अलग स्वीकर नहीं किया है।

अस्तु, षट-सन्दर्भमें 'तत्त्व-सन्दर्भके मङ्गलाचरण में श्रीजीवगोस्वामी द्वारा की गई वन्दना और श्रीबलदेव विद्याभूषण द्वारा की गई वन्दनामें विद्याविनोद महाशयने न जाने कैसे पार्थक्य खोज निकाला है—यह समझना नितांत कठिन है। तब क्या उन्होंने भाषाकी भिन्नताको ही पार्थक्य मान लिया है? अथवा अक्षरोंकी छपाईके (छोटे-बड़े अक्षरोंके) पार्थक्यको ही पार्थक्य माना है? अथवा तत्त्व-सन्दर्भमें श्रीजीवगोस्वामी द्वारा की गई वन्दनामें ८ श्लोक हैं और बलदेवप्रभु द्वाराकी गई वन्दनामें ६ श्लोक हैं, क्या इसीलिये उन्होंने संख्या ८ और ६ में पार्थक्य लक्ष्य करके पार्थक्य खोज निकाला है? अथवा क्या उन्होंने दोनों पार्षद- भक्त आचार्योंकी विचार धाराओंमें कोई पार्थक्य लक्ष्य किया है? हम इनमेंसे किसी भी क्षेत्रमें कोई पार्थक्य नहीं लक्ष्य कर पाते। "मणिमय-मन्दिरे मध्ये पिपीलिका पश्यतिछिद्रम्"— इस न्यायके अनुसार विद्या-विनोद महाशयकी स्वाभाविक वृत्तिकी हीनता का ही परिचय मिलता है। शकुनि और गीध आदि पक्षी अत्यन्त उच्च आकाशमें उड़ते रहने पर भी उनकी दृष्टि सर्वदा सड़े-गले दुर्गन्धमय शव पर ही लगी रहती है। किन्तु सावधान! इस उपमाके द्वारा कोई ऐसा न समझें कि बलदेव विद्याभूषणके विचार-मन्दिरमें भी छिद्रकी सत्ता तथा उनके जैसे परमोन्नत भगवद्भक्तके निर्मल जीवनमें भी हीन प्रवृत्ति स्वीकार कर ली गई है।

उक्त (क) अनुच्छेदमें तत्त्वसन्दर्भके मङ्गलाचरण

में श्रीजीवगोस्वामी द्वारा की गई वन्दना और श्रीविद्याभूषण द्वारा की गई वन्दनामें हम कहीं भी किसी तरहका पार्थक्य नहीं लक्ष्य करते। यदि विद्याविनोद महाशय कृपा कर कोई पार्थक्यका नमूना दिये होते, तो मैं उसकी विशेष रूपसे आलोचना करता। आशा करता हूँ वे प्रतिवादको पढ़कर उक्त परम भक्त दोनों आचार्योंके पार्थक्यका दृष्टान्त देकर अपनी उक्तियों का समर्थन करेंगे। 'पार्थक्य है'—केवल कहनेसे ही नहीं हो जाता। जिनलोगोंने तत्त्व-सन्दर्भ पढ़ा है, वे विद्याविनोद महाशयकी अनाप-शनाप उक्तियोंको 'वेद-वाणी' नहीं मान सकते। मैं उक्त वन्दनाओंके कतिपय श्लोकोंको तुलनामूलक विचारके लिए पास-पास ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर रहा हूँ। इससे पाठक अच्छी तरह समझ सकेंगे कि श्रीबलदेव और जीवगोस्वामी की वन्दनाओंमें किसी प्रकारका कोई अन्तर नहीं है—

(१) श्रीजीवगोस्वामीने तत्त्वसन्दर्भमें 'श्रीकृष्णो-जयति' वाक्यसे ग्रन्थका आरम्भ किया है। और उस ग्रन्थके एकमात्र टीकाकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी टीकाके आरम्भमें 'श्रीकृष्णो जयति' को ही उद्धृत किया है। अतः इस क्षेत्रमें कोई पार्थक्य लक्ष्य नहीं किया जाता।

(२) श्रीजीवपादने मङ्गलाचरणके प्रथम श्लोकमें "कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र-पार्षदम्। यज्ञैः संकीर्त्तन प्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥" (भागवत ११।५।३२) एवं उक्त श्लोका अर्थ द्वितीय श्लोकमें सुस्पष्ट रूपमें व्यक्त किया है। *

अर्थात् श्रीजीवगोस्वामीने 'कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं' श्लोक द्वारा श्रीमन्महाप्रभु और उनके अंग-उपाङ्ग आदि इष्ट वस्तुओंके निरूपण द्वारा अपने ग्रन्थमें मङ्गलाचरण रूप शिष्टाचार दिखलाया है। श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने भी अपनी टीकाके प्रथम लोकमें श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव और उनके अंग-स्वरूप "श्रीनित्यानन्दाद्वैत" प्रभुओंके प्रति मङ्गलाचरण द्वारा रति-मति प्रार्थना करके श्रीजीव गोस्वामी का सर्वथा अनुसरण किया है। यथा—

भक्ताभाषेनापि तोषं दधाने,
धर्माध्यक्षे विश्व-निस्तारि-नाम्नि।
नित्यानन्दाद्वैत-चैतन्यरूपे तत्त्वे,
तस्मिन्नित्यमास्तां रतिर्नः॥

(तत्त्वसन्दर्भः बलदेव टीका १, १३१८ सालके सत्यानन्द गोस्वामीके संस्करणसे)

अस्तु, जीवगोस्वामी और बलदेव विद्याभूषणके द्वारा किये गये मङ्गलाचरणोंमें क्या पार्थक्य है, हम समझ नहीं पाते। परन्तु हमारी समझसे दोनोंका तात्पर्य एक प्रतीत होता है।

(३) श्रीजीवगोस्वामीपाद द्वारा लिखित उक्त श्लोककी टीकामें श्रीबलदेव विद्याभूषणने जो कुछ लिखा है, उसके द्वारा उनके गौड़ीय वैष्णवोंके प्रति सर्वतोभावेन पूर्णानुगत्यका ही परिचय पाया जाता है। 'कृष्णवर्णं' के ऊपर जितनी भी टीकाएँ लिखी गयी हैं—श्रीजीवगोस्वामी द्वारा 'क्रम-सन्दर्भ' में, श्रीकृष्णदास कविराज द्वारा 'चैतन्यचरितामृत' में तथा श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती द्वारा 'सारार्थदर्शिनी' में—सभी क्षेत्रोंमें श्रीबलदेव द्वारा रचित टीकाके अनुरूप भाव ही व्यक्त किये गये हैं। अधिकन्तु बलदेव प्रभुकी टीकामें पूर्वोक्त टीकाओंके अस्फुट और अव्यक्त भावों को भी पूर्णरूपसे व्यक्त किया गया है। उदाहरणके लिये- 'साङ्गोपाङ्गास्त्र-पार्षदम्' की टीकामें श्रीबलदेवने लिखा है—

'अङ्गे नित्यानन्दाद्वैतौ, उपाङ्गानि श्रीवासादयः, अस्त्रानि विघ्नच्छेत्तृत्वात् भगवन्नामानि, पार्षदा गदाधर-गोविन्दादयस्तैः सहितमिति महाबलित्वं व्यज्यते।'

बलदेव विद्याभूषणकी यह टीका श्रीकृष्णदास कविराजकी टीकासे बिलकुल मिलती-जुलती है। श्रीकविराज गोस्वामीकी टीका इस प्रकार है—

आचार्य गोसांई—चैतन्येर मुख्य अंग।
आर एक अंग तार—प्रभु नित्यानन्द॥
प्रभुर उपाङ्ग—श्रीवासादि भक्तगण।

* अन्तः कृष्ण बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादि-वैभवम्। कलौ संकीर्तनाद्यैःस्म कृष्णचैतन्यमाश्रिताः॥
(श्रीजीव कृत तत्त्व-सन्दर्भः, २ रा श्लोक, १३१८ सालमें प्रकाशित सत्यानन्द गोस्वामी-संस्करण)

हस्त-मुख-नेत्र अङ्ग चक्रायुध-सम ॥
(चै० च० आ० ६ । ३६ - ३७)

अद्वैत-नित्यानन्द-- चैतन्येर दुई अंग।
अंगेर अवयवगण कहिये उपाङ्ग ॥
अङ्गोपाङ्ग तीक्ष्ण अस्त्र प्रभुर सहिते।
सेई सब अस्त्र हय पाषण्ड दलिते ॥
श्रीवासादि, पारिषद-सैन्य सङ्गे लञा।
दुई सेनापति बुलेन कीर्तन करिया ॥
(चै० च० आ० ३ । ७१ , ७२ , ७३)

अतएव श्रीजीवगोस्वामी और उनके परवर्ती श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी आदि आचार्यवर्गके साथ श्रीबलदेव विद्याभूषणका पार्थक्य ही कहाँ रहा ?

(४) श्रीजीव गोस्वामीने वन्दनाके तृतीय श्लोकमें * श्रीरूप-सनातनकी जय देकर उनके निर्देशानुसार तत्त्व-निरूपक 'षट्-सन्दर्भ' ग्रन्थ लिखा है।

श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी तत्त्वसन्दर्भमें मङ्गलाचरणके तृतीय श्लोककी टीका में रूप-सनातनका स्तव किया है। जहाँ जीवगोस्वामीने 'रूप-सनातको 'तत्त्व ज्ञापकौ'—वाक्य द्वारा तत्त्ववादी सम्प्रदायके तत्त्ववस्तुका ज्ञाता बतलाकर उनकी स्तुति की है, वहाँ बलदेवने और भी स्पष्ट रूपमें 'तत्त्वविदुत्तमौ तौ श्रीरूप-सनातनौ' वाक्य द्वारा श्रीरूप-सनातनकी वन्दना की है। ‡

अस्तु श्रीजीव गोस्वामी और श्रीबलदेव विद्याभूषणकी वन्दनाओंमें कोई पार्थक्य तो है ही नहीं, अधिकन्तु बलदेवकी वन्दनामें श्रीरूप-सनातनके प्रति और भी गम्भीरतम श्रद्धाका भाव पाया जाता है।

प्रसंगवश मैं श्रीजीव गोस्वामी पादके तत्त्ववादी मध्व-सम्प्रदायके अनुगत होने के सम्बन्धमें दो-एक बातें निवेदन करूँगा। विद्याविनोदने अपने 'वाद' ग्रन्थमें उल्लेख किया है कि—'श्रीजीव गोस्वीमीने माध्वाचार्यको तत्त्ववाद गुरु' कहा है, अतएव इससे पता चलता है कि माध्वाचार्यसे गौड़ीय सम्प्रदायका कोई सम्बन्ध नहीं है। † वास्तवमें श्रीजीव गोस्वामीने तत्त्ववादके गुरु मध्वाचार्यके तत्त्वादको लक्ष्य करके तथा उसे ही एकमात्र अवलम्बन करके तत्त्व-सन्दर्भ अथवा भगवत-सन्दर्भकी रचना की है। इतना ही नहीं, उन्होंने 'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वम्' (श्रीमद्भा० १ । २ । ३१) आदि तत्त्ववाद के मूल प्रमाण-श्लोकोंको भी अपने उक्त ग्रन्थमें अवतारणा की है। चार आचार्योंमें केवल माध्वाचार्य ही 'तत्त्ववादी' के नामसे प्रख्यात हैं। दूसरे-दूसरे आचार्योंके मतोंमें थोड़ी-बहुत अतात्त्विकता दृष्टिगोचर होनेके कारण ही माध्वगौड़ीय-सम्प्रदायके वैष्णवजन तत्त्ववादी हैं। इसका कारण यह है कि श्रीजीव गोस्वामीने स्वयं तत्त्ववादकी ही प्रतिष्ठा की है। तथा उन्होंने मङ्गलाचरणके तृतीय श्लोकमें अपने गुरु और दादा गुरु—श्रीरूप और श्रीसनातन गोस्वामीको तत्त्व ज्ञापक आचार्य लिखा है। वैष्णवाचार्य-कुल-मुकुट श्रील बलदेव प्रभुने भी श्रीजीव गोस्वामीके इस श्लोक की टीकामें उन्हींकी तरह श्रीरूप और सनातन गोस्वामीको सर्वोत्तम तत्त्वविद् निर्देश किया है। इसके द्वारा बलदेव प्रभुकी श्रीजीवचरण जैसी मध्वानुगत्यता तो प्रकाशित है ही, अधिकन्तु 'तत्त्वविदुत्तमौ' पदसे यह भी सूचित होता है कि बलदेवने मध्वाचार्यकी अपेक्षा श्रीरूप-सनातनके प्रति ही अधिक सम्मान दिखलाया है। गौड़ीय वैष्णवगण तत्त्ववादी

* जयतां मधुराभूमौ श्रीलरूप सनातनौ। यो विलेखयतस्तत्त्वं ज्ञापकौ पुस्तिकामिमाम् ॥ (त० स० ३)

‡ गोविन्दाभिधमिन्दिराश्रितपदं हस्तस्थरत्नादिवत् तत्त्वं तत्त्वविदुत्तमौ क्षितितले यौ दर्शयांचक्रतुः।
मायावाद-महान्धकार-पटली सद् पुष्पवन्तौ सदा तौ श्रीरूप सनातनौ विरचिताश्चर्यौ सुवर्यौ स्तुमः ॥
(त० सन्दर्भ टीका १।३)

† श्रीजीव गोस्वामीपादने अपने षट्सन्दर्भमें मध्वाचार्यको कई बार 'तत्त्ववादगुरु' कहा है, किन्तु ऐसे शब्द वे अपने सम्प्रदायके आचर्य-गुरुके प्रति कभी भी प्रयोग नहीं कर सकते हैं।

(विद्याविनोद-कृत अचिन्त्यभेदाभेदवाद पृ० १९६)

हैं—इसके सम्बन्धमें विद्याविनोद महाशयने स्वयं ही अपने 'वाद' ग्रन्थकी भूमिकाके पृष्ठ ४ में लिखा है—"श्रीश्री जीव गोस्वामीने श्रीमद्भागवतोक्त तत्त्ववाद × × × प्रतिष्ठित किया है।*

हो सकता है विद्याविनोद महाशय इसकी सफाई में कहेंगे—'जीव गोस्वामीने 'एकमेवाद्वितीयम्'—वाक्य द्वारा अद्वितीय-तत्त्ववाद अथवा अद्वैत या अद्वय तत्त्ववादकी प्रतिष्ठा की है। और मध्वाचार्यने द्वैत-तत्त्ववादकी स्थापना की है। अतएव दोनों के तत्त्ववादोंमें काफी अन्तर है।' किन्तु वास्तवमें मध्व के द्वैतवाद और गौड़ीयजनोंके अचिन्त्यभेदाभेदमें—जहाँ तक तत्त्वका प्रश्न है—रत्ती भर भी पार्थक्य नहीं है। हम इसे पृथक सिद्धान्तमें (अध्यायमें) प्रमाणित करेंगे। यहाँ पर केवल यही कहना है कि श्रीमध्वाचार्य तत्त्ववादी आचार्य हैं—इसमें दो मत नहीं हैं; और श्रीजीव गोस्वामीने तत्त्ववादकी प्रतिष्ठा की है—इसे विद्याविनोदजीने अपने 'वाद' ग्रन्थमें स्वीकार किया है। अतएव इस विषयमें हमारा उनके साथ मतभेद न होनेके कारण दोनों आचार्य ही तत्त्ववादी सिद्ध हुए। ऐसी दशामें श्रीजीव गोस्वमीने मध्वाचार्यको कई बार 'तत्त्ववाद-गुरु' कहा है, तो उसके द्वारा उन्होंने श्रीमध्वाचार्यको अपने सम्प्रदायका गुरु ही माना है तथा उसके द्वारा पृथक् सम्प्रदाय कल्पना करनेका कोई कारण नहीं—यही प्रमाणित होता है।

विद्याविनोद द्वारा आरोपित पार्थक्य और उसका खण्डन

श्रीजीवपाद और श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुकी वन्दनाओंमें पार्थक्य सिद्ध करनेके लिये विद्याविनोद महाशयने अपने 'वाद' ग्रन्थमें पाँच युक्तियाँ पेश की हैं; जिनमेंसे '(क)' और '(ख)' की युक्तियोंका मैंने पृष्ठ १४४ में उल्लेख किया है। युक्ति नं० (क) के विरुद्धमें मैंने ४ युक्तियोंके द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि श्रीजीवपादकी वंदनाके साथ श्रीबलदेव पादकी वन्दनामें कुछ भी अन्तर नहीं है। अब यहाँ पर उनकी युक्ति नं० (ख)† के अयुक्तिसंगत होनेका कारण दिखला रहा हूँ। इसके द्वारा यह स्पष्ट रूपमें पता चल जायगा कि श्रीजीवपादने तत्त्व-सन्दर्भके चतुर्थ श्लोकमें जिस 'वृद्ध वैष्णवः' शब्दका उल्लेख किया है, उस शब्दके ऊपर जीवगोस्वामीकी 'सर्व सम्वादिनी' टीका तथा बलदेवकी टीकामें कुछ भी पार्थक्य नहीं है। तथापि जान-बूझकर व्यर्थ ही पार्थक्यकी सृष्टि की गयी है।

विद्याविनोद महाशयके शरीर पर कहाँ आघात है—उसे हम उनके कपड़े खोलकर दिखलावेंगे। उनके 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' का प्रधान उद्देश्य है—मध्वाचार्यके साथ गौड़ीय-वैष्णवोंका कोई सम्बन्ध नहीं है—इसे प्रमाणित करना। इस कुमतको स्थापन करनेमें उन्होंने श्रीजीवपादको 'अद्वैतवादी' प्रमाणित करने तथा 'भेदवादसे उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है आदि ऐसे ऐसे वचनोंको लिखनेमें भी उन्होंने हिचकिचाहट बोध नहीं किया है। भेदवाद या द्वैत-वादका गंध भी स्वीकृत होनेसे श्रीमन्मध्वाचार्यका अनुसरण करना हो जायगा—यह विद्याविनोद महाशयके लिये अत्यन्त असहनीय है। यहाँ तक कि श्रीमद्भागवतको अद्वयवादी ग्रन्थ कहनेमें भी उनका हृदय तनिक भी कम्पित नहीं हुआ है। यदि श्रीमद्-भागवत ही अद्वयवादी ग्रन्थ हुए, तब अचिन्त्यभेदा-भेद सिद्धांत किसका है? और उन्होंने अपने ग्रन्थका नाम भी आखीर 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' ही क्यों रखा? उन्होंने अपने 'वाद' ग्रन्थकी भूमिकाके पृष्ठ ४ में स्पष्टाक्षरोंमें लिखा है—"अद्वयत्व ही श्रीमद्भागवत-का प्रतिपाद्य विषय है। श्रीमद्भागवत द्वैत या भेद प्रतिपादक शास्त्र नहीं हैं।"

* श्रीजीवगोस्वामीपाद श्रीमद्भागवतोक्त अद्वय-तत्त्ववाद 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्वको × × × अति सूक्ष्म विश्लेषणके साथ प्रतिष्ठित किया है।'

† (ख) तत्त्व-सन्दर्भ (४ अनु) 'वृद्धवैष्णवैः'—शब्दमें श्रीजीवपाद और बलदेवकी टीकामें पार्थक्य।

गुरुद्रोहिताके फलस्वरूप ही ऐसे गन्दे विचारका भूत उनके सिर पर सवार हो गया है । इस कुमतको स्थापन करनेके लिये उन्होंने बलदेवको भी भेदवादी अथवा द्वैतवादी प्रमाण करनेका प्रयास किया है। श्रीबलदेव विद्याभूषण मध्वानुगत भेदवादी हैं और श्रीजीवपाद भेदवादी नहीं हैं, अतएव जीवपादके साथ श्रीबलदेवका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—इस प्रकारकी मान्यता कालापहाड़ जैसे सम्प्रदाय-विरोधी भण्डके लिये ही संभव है । काला पहाड़ने नारीके आकर्षणसे हिन्दू-धर्म परित्याग कर यवन-धर्म ग्रहण किया और तत्पश्चात् हिन्दू-धर्मको जड़से उखाड़ फेंकनेके लिये भारत भरमें बेहद अत्याचार, अनाचार, लूटमार, अकर्म, कितना गिनाया जाय—सब कुछ किया—जिसकी विभिषिका आज भी भारतके इतिहास को कँपा देती है। विद्याविनोदके चालक या मन्त्री—वासुदेव भी उसीकी तरह घोरतम अपराधोंका विषमय फल अवश्य ही भोग करेंगे और भोग कर भी रहे हैं । वे लोग अभीसे पारमार्थिक और सामाजिक समाजमें अतिशय हीन व्यक्ति प्रमाणित होकर अत्यन्त घृणित जीवन बितानेके लिये बाध्य हुए हैं । कालापहाड़को जिसप्रकार 'हिन्दू शब्दसे इतनी चिढ़ थी कि वह इस शब्दको सुन तक नहीं सकता था, ठीक उसी प्रकार सुन्दरानन्द विद्याविनोद महाशय भी माध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायको त्याग कर अब उसके आचार्योंका नाम तक भी सुनना पसन्द नहीं करते । इन्होंने विश्वमें आजतक के आविर्भूत सर्वश्रेष्ठ, विशेषतः गौड़ीय-वैष्णवोंके सर्वोत्तम आचार्य परमहंसकुलचूड़ामणि ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपूज्यचरण जैसे परम मुक्त अपने गुरुदेवके नाम तकका भी कहीं उल्लेख नहीं किया है। नाम उल्लेख करना तो दूर रहे—सुनना तक भी पसन्द नहीं करते। सुतरां आनन्दतीर्थ मध्वाचार्यका नाम सुननेमें उन्हें विशेष आपत्ति होगी—उससे उनका पित्त गरम हो उठेगा, मस्तिष्क बिगड़ जायगा—इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

आचार्यकुलमुकुट मणि गौड़ीय-सम्प्रदाय-संरक्षक श्रीबलदेव विद्या-भूषण प्रभुपादने तत्त्व-सन्दर्भकी टीका रचना करते समय जो वन्दना की है, उसके, द्वितीय श्लोकमें उन्होंने श्रीमद् आनन्दतीर्थ मध्वाचार्यका नाम उल्लेख किया है । यह नाम-उल्लेख ही विद्याविनोद महाशयके हृदयमें चुभकर घाव (आघात) पैदा कर दिया है, जिससे वे बलदेव प्रभुका नाम सुन कर ही तिलमिला उठते हैं। हम श्रीबलदेव प्रभुके द्वारा रचित तत्त्व-सन्दर्भकी टीकाका द्वितीय श्लोक नीचे उद्धृत करते हैं—

मायावादं यस्तमः स्तोममुच्चैर्नाशं निन्ये वेदवागंशुजालः।
भक्तिर्विष्णोर्दर्शिता येन लोके जीयात् सोऽयं भानुरानन्दतीर्थः॥

अर्थात् सूर्य-स्वरूप आनन्दतीर्थ वेद वाणी-स्वरूप किरणोंके द्वारा मायावादरूप अन्धकारका सम्पूर्ण विनाश कर जगत्में विष्णुभक्ति रूप प्रकाशको फैलाया है; इसीलिये श्रीबलदेवने उनका जयगान किया है। इसी जगह सुन्दरानन्दने 'आनन्दतीर्थ' का नाम-उल्लेख ही पार्थक्यका कारण माना है । क्या वे बलदेव विद्याभूषणकी उक्तिको अयुक्तिसंगत या मिथ्या प्रमाणित कर सकते हैं ? श्रीबलदेवने तो श्रीरूप सनातनको भी मायावादरूप अन्धकार-राशिका नाश करनेमें सूर्य-स्वरूप वर्णन कर उनकी वन्दना की है । प्राचीन-गोस्वामियोंके प्रति बलदेव विद्याभूषणकी इस प्रकार अगाध श्रद्धा, उनके द्वारा गोस्वामियोंको सर्वोत्तम आचार्यके रूपमें वर्णन किया जाना तथा सांख्यादि द्वैतवादियों एवं विवर्त्तवादियोंके विचारोंका ध्वंस किया जाना—ये कार्य यदि गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके विरुद्ध माने जायेंगे, तब अनुकूल कार्य किसे कहा जायगा ?

आचार्य बलदेव विद्याभूषणका नाम यदि गौड़ीय वैष्णवोंकी आचार्य-तालिकासे हटा दिया जाय, तो आचार्य किसको कहा जायगा ? जयपुरकी गलता-गद्दीमें श्रीबलदेव विद्याभूषणने ही गौड़ीय वैष्णवोंके साम्प्रदायिक सम्मानकी रक्षा की थी । श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तीने ही उनको जयपुर भेजा था—इसमें दो मत नहीं हैं। इस ऐतिह्यको यों ही उड़ा देनेका

अधिकार किसी को भी नहीं है। श्रीबलदेवने श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीसे शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर और उन्हींकी आज्ञासे जयपुरकी गलता-गद्दीमें प्रतिवादी 'श्री' सम्प्रदाय के पण्डितोंको शास्त्र-विचारमें परास्त किया था। क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि विश्वनाथ चक्रवर्त्तीने ही स्वयं बलदेवको गौड़ीय वैष्णवोंका मध्वानुगत्य प्रमाणित करनेके लिये प्रेरणा दी थी? श्रीबलदेवके साथ विश्वनाथ चक्रवर्तीके एक दीक्षित शिष्य भी जयपुरमें गये थे, जिनका नाम श्रीकृष्णदेव सार्वभौम था। श्रीमद् विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीबलदेव प्रभुकी चिन्ताधाराकी पोषकताके लिये ही उनको बलदेवके साथ जयपुर भेजा था।* बलदेव विद्याभूषण विश्वनाथ चक्रवर्ती के सर्वप्रधान शिष्य थे—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है। श्रीबलदेवने उन्हींके निकट श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया था। गलताके साम्प्रदायिक-विवाद की मीमांसा करनेके लिये विश्वनाथ चक्रवर्ती स्वयं ही जयपुर पधारते—यदि उस समय वे अतिशय वृद्ध और कमजोर न हो गए होते। अब विवेचना करनेकी बात यह है कि यदि वे उपस्थित होते, तो अपने प्रतिद्वन्द्वी रामानुज सम्प्रदायको क्या उत्तर देते? क्या विद्याविनोद महाशयने इस प्रश्न पर कभी विचार किया है? मैं कहूँगा—विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरका भी वही सिद्धांत होता, जो सिद्धांत श्रीबलदेव विद्याभूषणने गलताकी सभामें उपस्थित किया था। यदि ऐसा होता तो, शायद विद्याविनोद महाशय श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरको भी गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायसे बहिष्कृत कर देते।

श्रीबलदेव प्रभुकी जीवनीके सम्बन्धमें हम चार विशुद्ध महाजनों द्वारा लिखित लेखोंको पाते हैं। ये चार महाजन हैं—श्रीलभक्ति विनोद ठाकुर, जगद्गुरु ॐविष्णुपाद श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी, परलोक गत अतुलचन्द्र गोस्वामी और श्यामानन्द शाखा गोपीवल्लभपुरके आचार्य श्रीविश्वम्भरानन्द गोस्वामी। आचार्य श्रीबलदेव श्यामानन्द शाखाके ही एक आचार्य थे। श्रीबलदेव पहले मध्व सम्प्रदायके आचार्य या शिष्य थे—इसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है, केवल जनश्रुति अथवा काल्पनिक संवादोंके अतिरिक्त किसीने कोई ठोस प्रमाण नहीं उद्धृत किया है। बल्कि सबने इस जनश्रुतिको संदेहकी दृष्टिसे ही देखा है।

अनुच्छेद (ख) में श्रीजीवगोस्वामी द्वारा लिखित वन्दनाके 'वृद्ध-वैष्णवैः'—शब्दकी श्रीबलदेव विद्याभूषण द्वारा रचित टीकाके प्रति कटाक्ष करके 'वाद'—ग्रन्थमें श्रीजीव गोस्वामीपादके साथ उनका पार्थक्य उल्लिखित हुआ है। श्रीजीवपादकी वन्दनाका वह श्लोक बलदेव विद्याभूषणकी टीकाके साथ उद्धृत कर रहा हूँ—

वन्दनाका श्लोक—

कोऽपि तद्बान्धवो भट्टो दक्षिण-द्विज-वंशजः।
विविच्य व्यलिखद् ग्रन्थं लिखिताद् वृद्धवैष्णवैः॥

श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुकी टीका—

"ग्रन्थस्य पुरातनत्वं स्वपरिष्कृतत्वञ्चाह, कोऽपीति। तद्बान्धवस्तयो रूप-सनातनयोर्बन्धुः—गोपाल भट्ट इत्यर्थः।"

* ××× जयपुरके गलता ग्राममें श्रीगोविन्दजीके मन्दिरमें श्रीरामानुज सम्प्रदायके आचार्योंने गौड़ीय वैष्णवोंके विरुद्ध एक भीषण संग्राम छेड़ना आरंभ किया था। इसे देख कर तत्कालीन जयपुर नरेशने श्रीवृन्दावनके प्रधान २ गौड़ीय वैष्णव आचार्योंको श्रीरूप गोस्वामीका अनुगत जान कर उन्हें श्रीरामानुज-सम्प्रदायके शास्त्रियोंके साथ विचार करनेके लिये निमन्त्रण भेजा। यह घटना १६२८ शकाब्द की है, जब कि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती अत्यन्त बूढ़े और कमजोर हो गये थे। अतएव उन्हींके परामर्शसे उनके छात्रतुल्य गौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य महामहोपाध्याय पण्डितकुल चूड़ामणि श्रीबलदेव विद्याभूषण और बलदेवके छात्र तथा विश्वनाथ चक्रवर्तीके शिष्य श्रीकृष्णदेव जयपुरकी विचार-सभामें पधारे थे।

—(साप्ताहिक गौड़ीय वर्ष १, संख्या १८, पृष्ठ ७-८)

विद्याविनोद महाशयको इस अंशकी टीका पर तो कोई आपत्ति नहीं है, आपत्ति है 'वृद्धवैष्णवैः' पदकी व्याख्या पर। वह अंश इस प्रकार है—

"वृद्धवैष्णवैः श्रीमध्वादिभिर्लिखितात् ग्रन्थात् तं 'विविच्य' विचार्य सारं गृहीत्वा ग्रन्थमिमं व्यलिखत्।"

भावार्थ यह कि श्रीजीवपादके 'सन्दर्भ' नामक ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय नवीन नहीं, प्रत्युत् पुरातन है। अर्थात् वेद-वेदान्तादि शास्त्रोंसे समर्थित है और श्रीरूप-सनातनके परम बान्धव दक्षिण देशीय ब्राह्मण कुलमें आविर्भूत श्रीगोपाल भट्टके ग्रन्थोंको सर्वतोभावेन मन्थन कर तथा श्रीमन्मध्वाचार्य आदि प्राचीन-प्राचीन वृद्ध-वैष्णवोंके दार्शनिक विचारोंको विवेचन-पूर्वक संग्रह करके यह षट्सन्दर्भ ग्रन्थ लिखा गया है।

विद्याविनोद महाशयकी आपत्तिका कारण 'वृद्ध-वैष्णवैः पदका अर्थ 'श्रीमध्वादिभिः' का लिखा जाना ही है। उनके दृष्टिकोणसे ऐसा लिखा जाना अन्याय हुआ है। यहाँ मध्वाचार्यका नाम नहीं लिखा जाना चाहिए था। विद्याविनोद महाशयका मत यह है कि—'बलदेव विद्याभूषण प्रभु मध्व-सम्प्रदायके शिष्य थे। इसीलिये उन्होंने अन्यान्यपूर्वक जोर-जबरदस्तीसे गौड़ीय-वैष्णवोंको मध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भूत करनेके लिये ही उक्त पदका वैसा अर्थ किया है। वास्तवमें तत्त्व-सन्दर्भमें जीवगोस्वामीका कहीं भी कोई ऐसा भाव प्रकाशित नहीं है, जिससे यह समझा जा सके कि गौड़ीय-सम्प्रदाय मध्वसम्प्रदायके अन्तर्गत है।'

(क्रमशः)

जैवधर्म

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ३, संख्या ६, पृष्ठ १३८ से आगे]

सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन-मूलक

द्वितीय खण्ड

तेरहवाँ अध्याय

दूसरे दिन गोधूलिके समय व्रजनाथ श्रीवास-अंगनमें पहुँचे और एक सघन बकुल वृक्षके नीचे बने हुए चबूतरे पर बैठकर वृद्ध बाबाजी महाराजकी प्रतीक्षा करने लगे। इधर न जाने क्यों बाबाजीके हृदयमें व्रजनाथके प्रति वात्सल्य भाव उमड़ पड़ा था, वे भी व्रजनाथकी प्रतीक्षा कर रहे थे। व्रजनाथके आनेकी आहट पाते ही वे अपनी भजन कुटीसे बाहर निकले और उन्हें बड़े प्रेमसे गले लगाया। तत्पश्चात् उन्हें अपने साथ लेकर कुटीमें आये और उन्हें बैठनेका स्थान देकर आप भी बैठे।

व्रजनाथने बाबाजीके चरणोंकी धूलि अपने सिर पर लगाकर बड़ी ही नम्रतासे कहा—"महात्मन्! आपने कल मुझे निमाई पण्डितके मूल-सिद्धान्त—दसमूलकी शिक्षा देनेके लिये कहा था। कृपया मुझे उसकी शिक्षा प्रदान करें।"

व्रजनाथके इस प्रकार सुन्दर प्रश्नको सुनकर बाबाजी बड़े प्रसन्न हुए और बड़े प्रेमसे बोले—"बेटा! मैं तुम्हें

पहले दसमूलका सूत्र-श्लोक बतला रहा हूँ। इस श्लोकमें दसमूलके दसों तत्त्वोंका सूत्रके रूपमें निरूपण किया गया है। तुम पण्डित हो, इस श्लोकका तात्त्विक अर्थ विवेचनपूर्वक धारण करो—

"आम्नायः प्राह तत्त्वं हरिमिह परमं सर्वशक्तिं रसाब्धिम्
तद्भिन्नांशांश्च जीवान् प्रकृति-कवलितान् तद्विमुक्तांश्च भावात्।
भेदाभेद प्रकाशं सकलमपि हरेः साधनं शुद्ध भक्तिम्।
साध्यं तत्-प्रीतिमेवेत्युपदिशति जनान् गौरचन्द्रः स्वयं सः॥

अर्थात्, गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त वेद-वाणियोंको आम्नाय कहते हैं। वेद और वेदानुगत श्रीमद्भागवत आदि स्मृतिशास्त्र तथा वेदानुगत प्रत्यक्षादि प्रमाण ही प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि—(१) हरि ही परम तत्त्व हैं, (२) वे सर्व-शक्तिमान् हैं, (३) वे अखिल रसामृत-सिन्धु हैं, (४) मुक्त और बद्ध दोनों प्रकारके जीव ही उनके विभिन्नांश तत्त्व हैं, (५) बद्ध-जीव मायाके अधीन होते हैं, (६) मुक्त जीव मायासे मुक्त होते हैं, (७) चिद् अचित् अखिल जगत् श्रीहरिका अचिन्त्यभेदाभेद प्रकाश है, (८) भक्ति ही एक-मात्र साधन है और (९) कृष्ण प्रीति ही एकमात्र साध्य वस्तु है।

स्वयं भगवान् श्रीगौराङ्गदेवने श्रद्धालु जीवोंको दस प्रकारके तत्त्वोंका उपदेश दिया है। उनमें पहला है—प्रमाण-तत्त्व। शेष नव, प्रमेय-तत्त्व हैं। तुम पहले प्रमाण और प्रमेयका अर्थ समझ लो। जिस विषयको प्रमाणके द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे प्रमेय कहते हैं। और जिसके द्वारा प्रमेय वस्तुको प्रमाणित किया जाता है उसे प्रमाण कहते हैं। उपरोक्त श्लोकमें मूल दसों तत्त्व अर्थात् सम्पूर्ण दसमूल तत्त्व आ गया है। अगला श्लोक दसमूलका पहला श्लोक होगा, जिसमें दसमूलके पहले तत्त्वका विवेचन है। २सरे से लेकर ८ वें श्लोक पर्यन्त सम्बन्ध-तत्त्व, ९ वें में अभिधेय (साधन)-तत्त्व और १० वें श्लोकमें प्रयोजन (साध्य)-तत्त्वका वर्णन है।

श्लोकका अर्थ सुनकर व्रजनाथने कहा—'बाबाजी महाशय! मुझे अभी कुछ भी पूछना नहीं है। अगले श्लोकको सुनकर यदि कुछ पूछना होगा तो आपके चरण-कमलोंमें निवेदन करूँगा, आप कृपया दसमूलका पहला श्लोक सुनावें।'

बाबाजी—'बहुत अच्छा, मैं तुम्हें दसमूलका पहला श्लोक सुना रहा हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो—

"स्वतःसिद्धो वेदो हरि-दयित-वेधः प्रभृतितः
प्रमाणं सत्-प्राप्तं प्रमिति विषयान् तान्नवविधान्।
तथा प्रत्यक्षादि-प्रमिति-सहितं साधयति नः
न युक्तिस्तर्काख्या प्रविशति तथा शक्ति-रहिता॥"

(१ला दसमूल)

अर्थात् श्रीहरिके कृपापात्र ब्रह्मा आदिके द्वारा क्रमशः सम्प्रदायमें जो स्वतःसिद्ध वेद पाये जाते हैं, वे आम्नाय-वाक्य कहे जाते हैं। वे वेदानुगत प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी सहायतासे नव प्रकारके प्रमेय-तत्त्वोंका साधन करते हैं। जिस युक्तिका तात्पर्य केवल तर्क ही तर्क होता है, वैसी युक्ति अचिन्त्य विषयोंका विवेचन करनेमें सर्वथा पंगु होती है। अतः अचिन्त्य तत्त्वके व्यापारमें तर्कका प्रवेश नहीं है।'

व्रजनाथ—'ब्रह्माने शिष्य-परम्पराके द्वारा शिक्षा दी है—इसका क्या वेदमें कोई प्रमाण है?'

बाबाजी—"हाँ है। मुण्डकोपनिषद् (१।१।१) में कहते हैं—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्व-विद्या-प्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥(क)

और भी (१।२।१३) में कहते हैं—

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म-विद्याम्॥" (ख)

(क) सम्पूर्ण जगत्के रचयिता तथा सबकी रक्षा करनेवाले ब्रह्माजी समस्त देवताओंसे आगे प्रकट हुए और अपने बड़े पुत्र अथर्वाको समस्त विद्याओंकी आधारभूता ब्रह्मविद्याका भलिभाँति उपदेश किया।

(ख) ब्रह्मविद्या उसे कहते हैं जिससे अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमका सत्य-स्वरूप तत्त्वतः जाना जाता है।

व्रजनाथ—"ऋषियोंने स्मृति-शास्त्रोंमें वेदका अर्थ ठीक-ठीक ही किया है, इसका क्या कोई प्रमाण है ?"

बाबाजी— "सर्वशास्त्रचूड़ामणि श्रीमद्भागवत (११।१४।२-४) में इस बात का प्रमाण है—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेद-संज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यास्यां मदात्मकः ॥ (क)
तेना प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा । (ख)इत्यादि

व्रजनाथ—'सम्प्रदायें क्यों बनीं ?'

बाबाजी—'संसारमें ऐसे लोगोंकी गणना दी अधिक है, जो मायावादका आश्रय कर भक्तिसे रहित कुपथ पर चलते हैं । मायावाद-दोषसे रहित शुद्ध भक्तजनोंका यदि कोई अलग सम्प्रदाय न हो, तो संसारमें सत्संग मिलना दुर्लभ हो जायगा । इसीलिये पद्मपुराणमें कहते हैं—

"सम्प्रदाय-विहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः ।
श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः ॥"

अर्थात्, श्री (रामानुज), ब्रह्म (मध्व), रुद्र (विष्णु स्वामी) और चतुःसन (निम्बादित्य)—इन चार सम्प्रदायोंके वैष्णवजन जगत्को पवित्र करनेवाले हैं । इन चारों सम्प्रदायोंके आचार्यों द्वारा दीक्षित मन्त्रोंके अतिरिक्त दूसरे-दूसरे सारे मन्त्र निष्फल हैं ।

इनमें ब्रह्म-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है । ब्रह्मासे लेकर आज तक यह सम्प्रदाय शिष्य-प्रशिष्य-क्रमसे चली आरही है । गुरु-परम्पराको मान कर चलनेवाली इन सम्प्रदायोंमें वेदान्त आदि परम कल्याणकारी ग्रन्थ जिस रूपमें अत्यन्त प्राचीनकालसे चलते आ रहे हैं, उससे उनमें कहीं भी कुछ रद्दोबदल अथवा कोई अंश प्रक्षिप्त होनेकी तनिक भी संभावना नहीं है । अतएव सम्प्रदायके द्वारा मान्यता प्राप्त ग्रन्थोंमें कोई सन्देहकी गुंजाइश नहीं । सम्प्रदाय एक बड़ी ही सुन्दर और आवश्यक व्यवस्था है । यही कारण है कि साधु-सन्तोंमें सत-सम्प्रदायकी प्रणाली अत्यन्त प्राचीन कालसे चलती आ रही है ।'

व्रजनाथ—'क्या सम्प्रदाय प्रणालीमें क्रमशः एकके बाद दूसरे समस्त आचार्योंके नाम मिलते हैं ?'

बाबाजी—'सम्प्रदाय प्रणालीमें बीच-बीचमें होने वाले प्रधान-प्रधान आचार्योंके नाम ही उल्लिखित हैं ।'

व्रजनाथ—'मैं ब्रह्म-सम्प्रदायकी गुरु-परम्परा सुनना चाहता हूँ ।'

बाबाजी—'सुनो'—

परव्योमेश्वरस्यासीच्छिष्यो ब्रह्मा जगत्-पतिः ।
तस्य शिष्यो नारदोऽभूद्-व्यासस्तस्याप शिष्यताम् ॥
शुको व्यासस्य शिष्यत्वं प्राप्तो ज्ञानावरोधनात् ।
व्यासाल्लब्ध-कृष्णदीक्षो मध्वाचार्यो महायशाः ॥
तस्य शिष्यो नरहरिस्तच्छिष्यो माधवो द्विजः ।
अक्षोभ्यस्तस्य शिष्योऽभूत्तच्छिष्यो जयतीर्थकः ॥
तस्य शिष्यो ज्ञानसिन्धुस्तस्य शिष्यो महानिधिः ।
विद्यानिधिस्तस्य शिष्यो राजेन्द्रस्तस्य सेवकः ॥
जयधर्मो मुनिस्तस्य शिष्यो यद्गण-मध्यतः ।
श्रीमद्विष्णुपुरी यस्तु 'भक्तिरत्नावली कृतिः' ॥ (ग)

(क) भगवान्ने कहा—जिसमें मेरी वाणियोंका (भागवत धर्मका) वर्णन है, वही वेद-वाणी समयके फेरसे प्रलयकालमें लुप्त हो गयी थी । फिर ब्राह्मकल्पके आदिमें—सृष्टिके समय मैंने उसे ब्रह्माको उपदेश किया था ।

(ख) ब्रह्माने अपने पुत्र मनुको और मनुने भृगु आदि सप्तर्षियोंको वेद-विद्याका उपदेश किया था ।

(ग) परमेश्वर श्रीनारायणके शिष्य ब्रह्मा हैं; ब्रह्माके शिष्य नारदजी हुए । व्यासदेव नारदजीके शिष्य हुए । (शुक्र) ज्ञानके प्रसारको रोकनेके लिये श्रीशुकदेवजी श्रीव्यासदेवके शिष्य हुए थे । प्रख्यात् मध्वाचार्यने श्रीव्यासदेवजी से कृष्ण-दीक्षा प्राप्त की थी । मध्वाचार्यके नरहरि और नरहरिके माधव-द्विज शिष्य हुए । अक्षोभ्यने माधवकी शिष्यता स्वीकार की । अक्षोभ्यके जयतीर्थ, जयतीर्थके ज्ञानसिन्धु, ज्ञानसिन्धुके महानिधि, महानिधिके विद्यानिधि और विद्यानिधिके शिष्य राजेन्द्र हुए । राजेन्द्रके शिष्य जयधर्म मुनि हैं । जयधर्म मुनिके अनुगत शिष्योंमें श्रीविष्णु पुरीजी एक प्रधान आचार्य हुए हैं, जिन्होंने 'भक्तिरत्नावली' नामक ग्रन्थकी रचना की है ।

जयधर्मस्य शिष्योऽभूद् ब्रह्मण्यः पुरुषोत्तमः ।
व्यासतीर्थस्तस्य शिष्यो यश्चक्रे 'विष्णु-संहिताम्' ॥
श्रीमल्लक्ष्मीपतिस्तस्य शिष्यो भक्ति-रसाश्रयः ।
तस्य शिष्यो माधवेन्द्रो यद्धर्मोऽयं प्रवर्त्तितः ॥ (क)

व्रजनाथ—'दसमूलके प्रथम श्लोकमें वेदको एकमात्र प्रमाण स्वीकार किया गया है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंको वेदानुगत होनेपर उन्हें भी प्रमाण माना गया है। परन्तु न्याय और सांख्यादि दर्शनोंमें कुछ अधिक प्रमाण देखे जाते हैं। पौराणिकोंने तो आठ प्रकारके प्रमाण स्वीकार किये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति और संभव। प्रमाणके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मत होनेका क्या कारण है? और यदि प्रत्यक्ष और अनुमानको सिद्ध-प्रमाणकी कोटिमें नहीं रक्खा जाय, तो यथार्थ ज्ञानका बोध (ज्ञान-व्याप्ति) भी कैसे हो सकता है? —मुझे समझानेकी कृपा करें।'

बाबाजी—'प्रत्यक्षादि प्रमाण-समूह इन्द्रियोंके परतंत्र हैं और बद्धजीवोंकी इन्द्रियोंमें भ्रम प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव—ये चार दोष सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे सत्य और निर्भूल कैसे माना जा सकता है। पूर्ण समाधिकी अवस्थामें स्थित, बड़े-बड़े महर्षियों और संत-आचार्योंके निर्मल हृदयमें सर्वतंत्र-स्वतंत्र और सर्वशक्तिमान् भगवान् स्वयं उदित होकर वेदके रूपमें सिद्ध-ज्ञान प्रकट करते हैं। अतः इस स्वतःसिद्ध ज्ञान-स्वरूप वेदकी प्रमाणिकता सर्वथा निर्भूल और निर्भर योग्य है।'

व्रजनाथ—'भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटवका अर्थ पृथक्-पृथक् स्पष्ट करके समझाइये।'

बाबाजी—'बद्धजीव अपनी असम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयका जो भूल-ज्ञान संग्रह करता है, उसे भ्रम कहते हैं। जैसे-रेगिस्तानमें गर्मीके दिनोंमें सूर्यकी किरणोंमें (मरिचिकामें) जलका भ्रम होता है। जीवकी प्राकृत बुद्धि स्वभावतः ससीम होती है। इस ससीम बुद्धिके द्वारा असीम पर-तत्त्वके सम्बन्धमें जो सिद्धान्त किये जाते हैं, उनमें भूल रहना स्वाभाविक है। ऐसी भूलका नाम प्रमाद है। जैसे—देश और कालकी सीमासे सीमित बुद्धिसे युक्त किसीका देश-कालसे अतीत ईश्वरका कर्त्ता जिज्ञासा करना। संदेह को विप्रलिप्सा कहते हैं। घटनाचक्रसे इन्द्रियोंकी असमर्थता अपरिहार्य है। अकस्मात् किसी एक वस्तु को देख कर उसमें अन्य वस्तु होनेका आरोप होनेके कारण जो भूल-सिद्धान्त हो पड़ता है, उसे करणापाटव कहते हैं।'

व्रजनाथ—'क्या प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका कोई मूल्य नहीं है?'

बाबाजी—'जड़-जगत्का ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है? परन्तु चित् जगत्के सम्बन्धमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इनका चित् जगतमें प्रवेश नहीं है। चित् जगत् सम्बन्धी ज्ञानमें वेद ही एकमात्र प्रमाण हैं। यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा प्राप्त ज्ञान स्वतःसिद्ध वेद-प्रमाणके अनुगत हो, तो वह आदरणीय है अन्यथा परित्याज्य है। अतएव स्वतः सिद्ध वेद ही एकमात्र प्रमाण हैं। हाँ, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंको भी प्रमाण माना जा सकता है, बशर्ते वे वेदानुगत हों।'

व्रजनाथ—'क्या गीता और भागवतादि ग्रन्थ प्रमाणकी कोटिमें नहीं हैं?'

बाबाजी—'गीताको भगवान्की वाणी होनेसे उपनिषद (गीतोपनिषद्) कहा गया है। अतः गीता—'वेद' है। उसी प्रकार 'दसमूल-तत्त्व' श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा होनेके कारण भगवत् वाणी है। इसलिए वह भी 'वेद' है। सम्पूर्ण वेदार्थोंके सार-संग्रह स्वरूप श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं। दूसरे-दूसरे शास्त्रोंकी वाणियाँ वेदके अनुगत होनेपर ही प्रमाण

(क) जयधर्मके शिष्य पुरुषोत्तम और पुरुषोत्तमके शिष्य ब्रह्मण्य तीर्थ हुए। ब्रह्मण्य तीर्थके शिष्य व्यासतीर्थ हुए, जिन्होंने 'विष्णु संहिता' की रचना की हैं। व्यासतीर्थके शिष्य श्रीलक्ष्मीपति हुए। इन्हीं लक्ष्मीपतिके शिष्य हैं—प्रेम-भक्तिके रसमें पगे हुए श्रीमाधवेन्द्र पुरीजी, जो प्रेम-भक्ति रूप धर्मके प्रवर्त्तक हैं।

के रूपमें ग्रहण करने योग्य हैं। तंत्रशास्त्र तीन प्रकार के हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। इनमें पंचरात्र आदि सात्त्विक तंत्र-समूह ('तन्'—धातुसे विस्तारके अर्थमें वेदार्थ विस्तारक 'तंत्र'—शब्द निष्पन्न होकर) वेदका गूढ़ार्थ विस्तारक शास्त्र होनेके कारण प्रमाण कोटिमें मान्य हैं।'

व्रजनाथ—'वेदके अन्तर्गत बहुतसे ग्रन्थ हैं, उनमें कौन-कौन ग्रन्थ प्रमाणके रूपमें ग्रहण करने योग्य हैं और कौन-कौन ग्रहण करनेके अयोग्य हैं ?'

बाबाजी—'समय-समय पर कुछ असत् व्यक्ति अपने स्वार्थोंकी रक्षाके लिये वेदमें अनेक अध्याय, मण्डल और मंत्र जोड़ते आ रहे हैं। इन पीछे से जोड़े गये अंशोंको 'प्रक्षिप्त' अंश कहते हैं। जैसे-तैसे वेद-ग्रन्थोंकी भी प्रमाणिकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, ऐसी बात नहीं है। बल्कि सत् सम्प्रदायके आचार्योंने जिन-जिन वेद-ग्रन्थोंको समय-समय पर प्रामाणिक माना है, वे ही वेद हैं और वे ही प्रामाणिक है और जिन ग्रन्थोंको अथवा उनके जिन अंशोंको प्रामाणिक नहीं माना है, वे त्याज्य हैं।'

व्रजनाथ—'सत् सम्प्रदायके आचार्योंने किन-किन वेद-ग्रन्थोंको स्वीकार किया है ?'

बाबाजी—'ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर—ये ग्यारह तात्त्विक उपनिषद्, गोपालोपनिषद् और नृसिंहतापनी आदि कतिपय उपासनामें सहायक तापनी एवं ब्राह्मण, मण्डल आदि ऋक्, साम, यजुः और अथर्वके अन्तर्गत काण्ड विस्तारक वेद-ग्रन्थोंको आचार्योंने स्वीकार किये हैं। समस्त वेद-ग्रन्थ हमें साम्प्रदायिक आचार्योंसे ही मिले हैं। अतः इन्हें सत्-प्राप्त प्रमाण कहा जा सकता है।'

व्रजनाथ—'चिद् विषयोंमें युक्तिका प्रवेश नहीं है—इसका क्या कोई प्रमाण है ?'

बाबाजी—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (कठ१।२।९) (क) इत्यादि प्रसिद्ध वेद वाणियों और 'तर्काप्रतिष्ठानात्' (ब्रह्मसूत्र २।१।११) (ख) आदि वेदान्त-सूत्रों द्वारा यह बात प्रमाणित होती है। और भी देखो—

"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥" (ग)
(महाभारत भी० पर्व ५।१२)

—महाभारतके इस श्लोकमें युक्तिकी सीमा निर्द्धारित कर दी गई है। अतएव भक्तिमार्गके आचार्य श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु (पू० १।३२) में लिखा है—

"स्वल्पापि रुचिरेव स्यात् भक्ति-तत्त्वावबोधका ।
युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता ॥" (घ)

(क) नचिकेता ! तुमने आत्म-तत्त्व-सम्बन्धी जो बुद्धि प्राप्त की है, उसे तर्क द्वारा नष्ट करना उचित नहीं।

(ख) तर्कको प्रतिष्ठा नहीं है। इसके द्वारा कोई वस्तु स्थापित नहीं की जा सकती है, क्योंकि आज एक व्यक्ति तर्क और युक्तिसे जिसको स्थापन करता है, कल उससे अधिक प्रतिभाशाली मनुष्य उसे रद्द कर देता है। इसलिये तर्ककी अप्रतिष्ठा कही गई है।

(ग) प्रकृतिसे अतीत तत्त्व-समूह अचिन्त्य लक्षणमय होते हैं। तर्क प्राकृत विषयोंमें ही लागू हो सकता है; क्योंकि वह स्वयं प्रकृतिके अन्तर्गत है। इसलिये वह प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको स्पर्श भी नहीं कर पाता। अतएव जहाँ तक अचिन्त्य भावोंका प्रश्न है, शुष्क तर्कका प्रयोग अवांछनीय और व्यर्थ है।

—(चैतन्यचरितामृत अमृतप्रवाह भाष्य)

(घ) भक्ति-तत्त्व-प्रतिपादक श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंके प्रति थोड़ी-सी रुचि पैदा होने पर भी भक्ति-तत्त्व बोधगम्य हो सकता है। परन्तु केवल शुष्क तर्कों द्वारा उसे जाना नहीं जा सकता। क्योंकि तर्ककी कोई प्रतिष्ठा अथवा अन्त नहीं है।

युक्ति द्वारा सत्यका यथार्थ निरूपण नहीं होता—यह प्राचीन उक्तियोंसे सिद्ध है—

"यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ (क)

तुमने आज एक युक्ति द्वारा एक सिद्धान्त स्थापित किया, कल तुमसे अधिक बुद्धिमान और प्रतिभाशाली दूसरा व्यक्ति उसे खण्डन कर उड़ा दे सकता है। अतएव युक्तिका भरोसा ही क्या है ?'

व्रजनाथ—'बाबाजी ! वेद जो स्वतःसिद्ध प्रमाण है—इसे मैं अच्छी तरह समझ गया। कुछ तार्किक लोग व्यर्थ ही वेदके विरुद्ध तर्क-वितर्क किया करते हैं। अब कृपा करके दसमूलका दूसरा श्लोक बतलाइये।'

बाबाजी—

'हरिस्त्वेकं तत्त्वं विधि-शिव-सुरेश-प्रणमितः
यदेवेदं ब्रह्म प्रकृति रहितं तत्त्वनुमहः ।
परात्मा तस्यांशो जगदनुगतो विश्व-जनकः
स वै राधा-कान्तो नव-जलद-कान्तिश्चिदुदयः ॥
(दसमूल-२)

अर्थात् ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदि देववृन्द जिनको निरन्तर प्रणाम किया करते हैं, वे हरि ही एक-मात्र परमतत्त्व हैं। शक्ति-रहित निर्विशेष ब्रह्म उन श्रीहरिकी अंग-कान्ति और जगत्की सृष्टिकर उसमें अपने एक अंशसे प्रविष्ट रहनेवाले सर्वान्तर्यामी परम-पुरुष परमात्मा—उन श्रीहरिके अंश मात्र हैं। वे श्री-हरि ही नव-जलधर-कान्तिसे युक्त चित्स्वरूप श्रीश्री राधावल्लभ हैं।'

व्रजनाथ—'उपनिषदोंमें प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मको ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व बतलाया गया है। परन्तु श्रीगौर हरिने किस युक्ति या प्रमाणके आधारपर उस ब्रह्मको श्री-हरिकी अंग-ज्योति बतलाया है ?'

बाबाजी—'श्रीहरि ही भगवान् हैं। विष्णु पुराण-में भगवत्स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतिङ्गना ॥
(वि. पु. ६।५।७४)

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री अर्थात् सौन्दर्य, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छः अचिन्त्य गुणोंसे युक्त परम-तत्त्व ही भगवान् हैं।

—क्रमशः

श्रीबदरिकाश्रमकी
सूर्यताप शोधित शुद्ध शिलाजीत

शिलाजीत अनुपान भेदसे समस्त रोगोंकी अचूक रसायन औषधि है। स्वप्नदोष, मधुप्रमेह आदि समस्त धातु विकारको अच्छा कर देहको पुष्ट बनाती है। स्वास, दमा तथा स्त्रियों के प्रदर रोगमें अत्यन्त लाभदायक है। मूल्य प्रचारार्थ— ।।) तोला याने ५० नये पैसे।

पता—पं० महेशानन्द शर्मा तथा पुत्र, शिलाजीत फर्म, पो० जोशीमठ, [गढ़वाल]।

(क) एक तर्क निष्ठ व्यक्ति खूब परिश्रम करके एक मत स्थापित करता है। परन्तु उससे अधिक तार्किक व्यक्ति उसके मतका अनायास ही खण्डन कर सकता है।